वैदिक साहित्य सदन ग्रन्थमाला—पुष्प दो

वैदिक-स्वर-बोध

लेखक :

डॉ. व्रजबिहारी चौबे
एम.ए., पी-एच्.डी., सहित्यरत्न
प्राध्यापक, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय
होशियारपुर (पंजाब)

प्रकाशक :

य सदन, होशियारपुर

१९७२

वैदिक साहित्य सदन ग्रन्थमाला—पुष्प दो

वैदिक-स्वर-बोध

लेखक :

डॉ. व्रजबिहारी चौबे

एम.ए., पी-एच्.डी., साहित्यरत्न

प्राध्यापक, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय

होशियारपुर (पंजाब)

प्रकाशक :

वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर

१९७२

प्रकाशक :

वैदिक साहित्य सदन
बहादुरपुर चौक, होशियारपुर
(पंजाब, भारत)

प्रथम संस्करण—मार्च, १९७२

मुद्रित प्रतियां—१०००

मूल्य—सात रुपये

मुद्रक :

विष्णुदत्त शर्मा, मैनेजर
होशियारपुर डिस्ट्रिक्ट को-ऑपरेटिव यूनियन प्रिंटिंग प्रेस
बाजार वकीलां, होशियारपुर।

विषय-सूची

प्राक्कथन

विश्व-साहित्य के इतिहास में अब तक जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसमें ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद के अध्ययन से यद्यपि इस बात का पता चलता है कि उससे भी पूर्व काव्य-निर्माण की दिशा में काफी कार्य हुआ था, किन्तु वह सामग्री हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है और न उपलब्ध होने की कोई सम्भावना है। इसलिए हमें यही मानना पड़ता है कि जिस भाषा में ऋग्वेद की रचना हुई, वही भाषा का प्राचीनतम रूप है; वही भारतीय भाषाओं का उद्गम-स्थान है। उस भाषा को वैदिक भाषा की संज्ञा दी जाती है। वह भाषा एक समय बोल-चाल की भाषा थी। सभी लोग उसको आसानी से समझते थे। किन्तु कालान्तर में जब उसका रूप विकसित हो गया और उसमें कुछ परिवंतन आ गये, सामान्य लोगों के लिए उसको समझना कठिन हो गया। उसको समझने के लिए परवर्ती काल के विद्वानों ने काफी प्रयत्न किया, और इस विषय में अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। इस दिशा में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ, वह स्वर-सम्बन्धी था। वैदिक मन्त्रों को उसी रूप में सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक था कि उसका यथावत् उच्चारण किया जाय। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण-सम्बन्धी वैशिष्ट्य का विवेचन करने के लिए अनेक परिषदों की स्थापना की गई। ये परिषदें प्राचीन भाषा विज्ञान के उच्च-अध्ययन-संस्थान थीं। अलग-अलग वेदों की अलग-अलग परिषदें थीं। एक ही वेद की अवान्तर शाखाओं के उच्चारण-सम्बन्धी वैशिष्ट्य का भी अध्ययन करने वाली संस्थायें थीं। इन परिषदों में जिन ग्रन्थों का प्रणयन हुआ

वे पार्षद या प्रातिशाख्य कहलाये। वेदों की जितनी शाखायें रहीं होंगी उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई होगी, ऐसा हम प्रातिशाख्य इस नाम से अनुमान कर सकते हैं। किन्तु आज बहुत थोड़े ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ मिलते हैं। ऋग्वेद का केवल एक ही प्रातिशाख्य मिलता है ऋग्वेद प्रातिशाख्य जिसके रचयिता आचार्य शौनक हैं। शुक्ल यजुर्वेद का भी केवल एक ही वाजसनेयि प्रतिशाख्य उपलब्ध है, जिसके रचयिता आचार्य कात्यायान हैं। कृष्ण यजुर्वेद का भी एक ही प्रतिशाख्य है तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, किन्तु इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं। सामवेद के चार प्रतिशाख्य हैं—ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, पुष्पसूत्र तथा नैगेय सूत्र। ऋक्तन्त्र सामवेद का व्याकरण-ग्रन्थ है। डा. सूर्यकान्त ने हस्तलेखों की पुष्पिकाओं तथा प्राचीन परम्परा के आधार पर आचार्य औदव्रजि को इसका रचयिता बताया है। रामचन्द्र दीक्षित द्वारा सम्पादित सामतन्त्र की भूमिका में डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने औदव्रजि को ही सामतन्त्र का भी रचयिता माना है। पुष्पसूत्र का रचयिता पुष्प नामक किसी आचार्य को बताया जाता है। किन्तु यह मत गलत है। पुष्प आचार्य का नाम नहीं, सामगान के एक स्वर-विकास का नाम है। इसको फुल्ल भी कहा जाता है। चित्र का. जब सामगान में चायित्र, अग्नि का ओग्नाइ या आग्नाइ होता है, तो इसी को पुष्प या फुल्ल कहा जाता है। मैक्समूलर ने हिस्ट्री आव् एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर (द्वितीय संस्करण, पृ. २१०) में गोभिल को इसका रचयिता माना है। बर्नेल ने आर्षेय ब्राह्मण की भूमिका में इस बात का उल्लेख किया है कि उत्तरी परम्परा में गोभिल को किन्तु दक्षिणी परम्परा में वररुचि को इसका रचयिता माना जाता है। नैगेय सूत्र का भी रचयिता गोभिल को बताया जाता है। अथर्ववेद के दो प्रतिशाख्य हैं—अथर्ववेद प्रतिशाख्य तथा शौनक चतुरध्यायिका। ये दोनों आचार्य शौनक की रचनायें मानी जाती हैं। प्रतिशाख्यों

के अतिरिक्त सभी वेदों के अलग अलग शिक्षा-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इन शिक्षाओं में ४० के लगभग उपलब्ध हैं। प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं की विषय-वस्तु एक ही है, अन्तर केवल यह है कि शिक्षायें सभी वेदों के स्वर-विषयक सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करती हैं, जब कि प्रातिशाख्य अपने शाखागत स्वर-विषयक वैशिष्ट्य के विवेचन तक ही अपने को सीमित रखते हैं। इस प्रकार शिक्षाओं में जहां सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है, वहां प्रातिशाख्यों में शाखागत विशेष स्वर-नियमों का विवेचन मिलता है। ये ही प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थ शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत आते हैं।

प्रातिशाख्यकारों तथा शिक्षाकारों के अतिरिक्त वैयाकरणों ने भी वैदिक भाषा के स्वर-विषयक नियमों एवं उसके वैशिष्ट्य का पूर्ण रूप से विवेचन किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में स्वर-विषयक नियमों को बड़े ही व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित किया गया है। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के भी मत का उल्लेख किया है। सम्भवतः उन आचार्यों के वैदिक स्वर के विषय में स्वतंत्र ग्रंथ रहे होंगे, किन्तु दुर्भाग्यवश आज वे उपलब्ध नहीं हैं। शान्तनवप्रणीत 'फिट्सूत्र' मिलता है, जिसमें विभिन्न पदों के स्वर-विषयक नियमों का उल्लेख किया गया है। अष्टाध्यायी के सूत्रों के ऊपर कात्यायन का वार्तिक मिलता है। इन वार्तिकों में कात्यायन ने उन पदों के स्वर-नियमों का विवेचन किया है, जो अष्टाध्यायी के स्वर-नियमों से सिद्ध नहीं हो पाते। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि तथा कात्यायन के बताये स्वर-नियमों का ही पूर्ण रूप से व्याख्यान किया है। स्वरों के उच्चारण-सम्बन्धी वैशिष्ट्य का भी पतञ्जलि ने उल्लेख किया है। पतञ्जलि के स्वर-विषयक व्याख्यान को हम स्वर-दर्शन की संज्ञा दे सकते हैं।

पाणिनि तथा कात्यायन ने स्वर-नियमों की स्थापना तो की थी, किन्तु उनकी रचना सूत्रात्मक होने के कारण उदाहरणों को उपस्थित नहीं कर सकी थी। महाभाष्यकार ने पहली बार स्वर-सूत्रों के व्याख्यान में उदाहरण भी प्रस्तुत किये। आगे चलकर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के व्याख्याकार अनेक वैयाकरणों ने भी इन सूत्रों पर अपने सोदाहरण भाष्य लिखे। उन ग्रंथों में काशिका तथा सिद्धान्त कौमुदी का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। सिद्धान्त कौमुदी में तो भट्टोजिदीक्षित ने अष्टाध्यायी के लगभग सभी स्वर-विषयक सूत्रों को वैदिक स्वर-प्रक्रिया नामक प्रकरण के अन्तर्गत एकत्रित कर दिया। वैदिक विद्वानों में इसी वैदिक स्वरप्रक्रिया का अधिक प्रचलन है। श्री रुद्रार्य के पुत्र नरसिंह सूरि, जिनका समय १४ वीं सदी है, की स्वर-मञ्जरी नामक एक पुस्तक मिलती है। इसमें स्वतंत्र रूप से विभिन्न पदों के स्वर-नियमों का तथा वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें लोपनिमित्त, आगम, विकास, प्रकृति, संधि, पद, समास, प्रत्यय, प्लुत, तथा अर्थभेद-निमित्त स्वरों का विवेचन किया गया है। इसके ऊपर मल्लिनाथ के पुत्र गिरिनाथ ने परिमल[1] नाम से एक व्याख्या भी लिखी है, किन्तु अभी तक वह प्रकाशित नहीं हुई है। श्रीनिवास यज्वा ने भी विषय-क्रम के अनुसार स्वर-विषयक अष्टाध्यायी-सूत्रों को स्वर-सिद्धान्त-चन्द्रिका नामक ग्रन्थ में

---

१. डा. जि. मुरलसिद्धय, निदेशक, प्राच्य विद्या संशोधनालय, मैसूर की सूचना के अनुसार इसकी चार हस्तलिखित प्रतियां—नं. एस. पी. ६२२. (कागज), एस. पी. १९०, ६६८, ४४५४ (ताड़पत्र)—प्राच्य विद्या संशोधनालय, मैसूर में सुरक्षित हैं।

एकत्रित किया और बड़े विस्तार में उन सूत्रों की व्याख्या की। यह पुस्तक स्वर-विषयक गुत्थियों को सुलझाने में बड़ी उपयोगी है।

वैदिक स्वर के ऊपर वेद के भाष्यकारों ने भी सराहनीय कार्य किया है। स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य में पदों के स्वर-सम्बन्धी विशेषताओं का कहीं-कहीं उल्लेख किया है। आचार्य वेंकट माधव ने ऋगर्थदीपिका नामक ऋग्वेद के भाष्य में प्रथम अष्टक के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में स्वरों का विवेचन किया है। प्रथम अध्याय की उपक्रमणिका में तिङ् पदों के स्वरों का, द्वितीय में आमन्त्रित पदों के स्वरों का, तृतीय में समास-स्वरों का, चतुर्थ में समास-स्वर-व्यत्यय का, पञ्चम में अवग्रहरहित पदों में स्वर द्वारा अर्थनिर्धारण का, षष्ठ में सर्वानुदात्त पदों का, सप्तम में अन्वादेश में वाक्य-स्वर का तथा अष्टम में रूप में समान पदों के स्वर-भेद से अर्थभेद का विवेचन किया गया है। कुन्हन राज ने मद्रास से वेंकट माधव की ऋगर्थदीपिका के प्रत्येक अध्याय के उपक्रमणिका श्लोकों को ऋग्वेदानुक्रमणी नाम से अलग से सम्पादित किया है। उसमें प्रथम अनुक्रमणी स्वरानुक्रमणी है, जिसमें आठ परिच्छेद हैं। वेदार्थ के लिए स्वर का ज्ञान अत्यावश्यक है, इस तथ्य का सम्यक् प्रकार से विवेचन वेंकट माधव ने किया है। सभी वेदों के भाष्यकारों में आचार्य सायण का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने लगभग सभी वेदों के ऊपर प्रामाणिक भाष्य लिखे हैं। उन्होंने प्रत्येक भाष्य में मन्त्रगत पदों के स्वर-विषयक वैशिष्ट्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। यदि सायण द्वारा उनके वेद-भाष्यों में किये गए पदों के स्वर-विषयक विवेचन को एकत्र संकलित किया जाये, तो वह स्वर-सम्बन्धी एक उच्च कोटि का संग्रह-ग्रन्थ हो सकता है। सायण ने स्वर-विवेचन में पाणिनि को प्रामाणिक माना है और प्रायः प्रत्येक स्थल पर उसके स्वर-सूत्रों को उद्धृत किया है।

आधुनिक युग में भी विद्वानों ने वैदिक स्वर के ऊपर पर्याप्त कार्य किया है। ह्विटनी, विल्सन, मैकडानल, वाकरनैगल ने अपने व्याकरण ग्रन्थों में स्वरों का भी विवेचन किया है। कई विद्वानों ने इस विषय में स्वतंत्र लेख भी लिखे हैं। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा तथा युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वर के ऊपर कई लेखों के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। डॉ. वर्मा ने 'फोनेटिक आब्जर्वेशन्स आव् एंशिएण्ट इण्डियन ग्रामेरियन्स' नामक अपने शोध-ग्रन्थ में वैदिक स्वरों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक विवेचन किया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने वैदिक-स्वर-मीमांसा में स्वरों का सामान्य विवेचन तथा वेदार्थ में उनकी उपयोगिता का प्रतिपादन करते हुये विशेष रूप से सूत्रात्मक शैली में वैदिक स्वराङ्कन-प्रकार को दर्शाया है। डॉ. रामगोपाल ने अपने वैदिक व्याकरण में स्वर-सम्बन्धी नियमों का विशेष रूप से एक स्वतन्त्र अध्याय में विवेचन किया है। पं. अमरनाथ शास्त्री ने वैदिक-स्वर-समीक्षा नामक ग्रन्थ में प्राचीन पद्धति के अनुसार स्वरों का विवेचन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों में भूमिका खण्ड में वैदिक स्वरों का विवेचन मिलता है। वेबर, कलान्द, कीलहार्न आदि ने शतपथ ब्राह्मण के स्वर-वैशिष्ट्य के ऊपर काफी लिखा है।

सन् १९६५ में न्यू वैदिक सेलेक्शन नाम की मेरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसके परिशिष्ट संख्या २ में मैंने स्वरों का संक्षेप में विवेचन किया था। उस पुस्तक के लिख चुकने को बाद मैंने श्रद्धेय डॉ. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी से डी. लिट्. करने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने मुझे अपना यह सुझाव दिया कि वैदिक-स्वर-सिद्धान्त (Principles of Vedic Accentuation) इस विषय पर मैं डी.लिट्. के लिए कार्य करूं। उनके सुझाव के अनुसार मैंने वैदिक स्वर के ऊपर विशेष रूप से अध्ययन करना शुरू किया।

कई विद्वानों से व्यक्तिगत सम्पर्क भी स्थापित किया। इसी बीच स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, इन्स्टीच्यूट आव् ओरिएण्टल फिलोंसफी, वृन्दावन में प्राध्यापक हो कर चला गया। किन्तु वहां भी मैंने इस कार्य को चालू रखा। वहीं पर कम्प स्वर के ऊपर विशेष रूप से कार्य किया। पुनः १९६७ में वृन्दावन से मैं विश्वेश्वरानन्द संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय,होशियारपुर में संस्कृत प्राध्यापक के रूप में आ गया। यहां वेद-वेदाङ्ग परिषद् में, जिसकी अध्यक्षता आचार्य विश्वबन्धु जी ने की थी, मैंने कम्प स्वर के ऊपर अपना शोध निबन्ध पढ़ा था। अपने कार्य में यहां के विशाल पुस्तकालय से मुझे बड़ी सहायता मिली। उसी समय 'शतपथ ब्राह्मण की स्वर-प्रक्रिया और उसकी स्वराङ्कन पद्धति' शीर्षक शोध-निबन्ध लिखा था,और उसे १९६८ के वाराणसी में होने वाले अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के वेद-विभाग में पढ़ा था। लेख में शतपथ ब्राह्मण के स्वर के विषय में आज की प्रचलित मान्यता का खण्डन किया गया था, इसलिए कई विद्वान् चौंके थे। काशिकर जी, जो वेद-विभाग के अध्यक्ष थे, ने कहा था कि यदि यह बात परम्परा द्वारा सिद्ध हो जाय तो इसे आज के विद्वानों को मान लेना चाहिए। वाराणसेय विश्वविद्यालय के तथा वहां के कई अन्य समुपस्थित वेद के विद्वानों ने, जिनमें श्रद्धेय पं. कान्तानाथ शास्त्री तेलंग भी थे (अफ़सोस कि अब वे इस संसार में नहीं हैं), मेरी मान्यता का समर्थन किया था। मेरी मान्यता भाषिक परिशिष्ट सूत्र, मीमांसा सूत्र तथा प्रातिशाख्यों पर आधारित है। वैदिक स्वरों में स्वरित के विषय में बड़ी अनिश्चितता है। मैंने उसके ऊपर जो शोध-कार्य किया है, वह अभी-अभी वैदिक-स्वरित-मीमांसा के नाम से प्रकाशित हुआ है। वैदिक-स्वर-सिद्धान्त के ऊपर मेरा अभी कार्य चल रहा है।

१९६८ में मेरे एम.ए. के छात्रों ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि मैं स्वर के ऊपर हिन्दी भाषा में एक सरल एवं सुबोध पुस्तक लिखूं, जो उनके लिये उपयोगी हो सके। मैंने सोचा कि विद्वानों के लिये वैदिक स्वर-सिद्धान्त को पूरा होने में अभी कुछ और समय लगेगा तब तक मैं अपने छात्रों की इच्छा पूर्ण कर दूं। इसी उद्देश्य से मैंने इसकी रचना की। पुस्तक में ११ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वैदिक स्वरों का परिचय तथा उनके स्वराङ्कन का प्रकार बताया गया है। दूसरे अध्याय में सामान्य स्वर, तीसरे में प्रत्यय एवं प्रातिपदिक-स्वर, चौथे में विभक्ति-स्वर, पांचवें में समास-स्वर, छठे में आख्यात-स्वर, सातवें में संधि-स्वर तथा आठवें में वाक्य-स्वर का विवेचन किया गया है। नवें अध्याय में पदपाठ तथा दसवें अध्याय में क्रमपाठ एवं विकृतिपाठों का विवेचन है। क्रमपाठ एवं विकृतिपाठों को पुस्तक में इसी अभिप्राय से स्थान दिया गया है कि वेद के विद्यार्थी इन विविध पाठों से कम से कम परिचित रहें। ग्यारवें अध्याय में वेदार्थ में स्वरज्ञान की उपयोगिता एवं उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि अब तक इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों की अपेक्षा यह पुस्तक वेद के विद्यार्थियों के लिये सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होगी। यदि यह पुस्तक वैदिक स्वरों को आसानी से समझने में वेद के विद्यार्थियों की सहायता कर सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

इस पुस्तक को लिखने में जिन विद्वानों एवं मित्रों से जिस किसी भी प्रकार की सहायता अथवा प्रेरणा मुझे मिली है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय डॉ. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने वैदिक स्वरों के ऊपर विशेष रूप से अध्ययन करने के लिये

मुझे प्रेरित किया। समय-समय पर उनसे कार्य करने की जो प्रेरणा मिलती रही, उसने मुझे बैठने नहीं दिया। उसी प्रेरणा के कारण इस कार्य में लगा रहा, और आगे भी लगा रहूंगा। अगस्त सन् १९७० में जब डॉ. बी. आर. शर्मा प्रोफेसर के रूप में विश्वेश्वरानन्द संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय में आये तब से वे मुझे इस क्षेत्र में कार्य करते रहने के लिये प्रोत्साहित करते रहे। उन्होंने जो प्रोत्साहन दिया और कई आवश्यक सुझाव दिये इसके लिये मैं सदैव उनका ऋणी रहूंगा। अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा काशिका आदि के कई संदेहास्पद स्थलों पर मेरे सहयोगी श्री मुनीश्वर देव जी तथा श्री वीरेन्द्र जी ने जो सुझाव दिये, इसके लिये मैं उनका आभारी हूं। पं युधिष्ठिर मीमांसक तथा डॉ. रामगोपाल, रीडर, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ का भी आभारी हूं, जिनके ग्रन्थों से मुझे सहायता मिली है। मेरे एम.ए. के छात्र सोमदत्त तथा कृष्णमुरारी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने पुस्तक की विषय-सूची तथा संक्षेप-सूची तैयार करने में मेरी सहायता की है। उनके उज्ज्वल भविष्य की मैं कामना करता हूं। को-आपरेटिव प्रेस के मैनेजर पं. विष्णुदत्त शर्मा तथा वहां के सभी कार्यकर्ता, विशेष रूप से मनसाराम धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने बड़े परिश्रम के साथ पुस्तक को मुद्रित किया है। विद्वान् पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक में यदि कोई मुद्रण सम्बन्धी या सिद्धान्त-सम्बन्धी त्रुटि रह गई हो तो वे उसकी ओर मेरा ध्यान दिलायेंगे। मैं उनका विशेष रूप से आभारी रहूंगा।

ब्रजबिहारी चौबे

चैत्र रामनवमी, वि. सं. २०२९
(२३ मार्च, १९७२)

संक्षेप-सूची

उ. सू. = उणादि सूत्र
उपक्र. श्लो = उपक्रमणिका श्लोक
ऋ. क्र. = ऋग्वेद क्रमपाठ
ऋ. ज. = ऋग्वेद जटापाठ
ऋ. दी. = ऋगर्थदीपिका
ऋ. प्रा. = ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऋ. प्रा. व. वृ. = ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वयवृत्ति
ऋ. मा. पा. = ऋग्वेद मालापाठ
ऋ. सं. पा. = ऋग्वेद संहितापाठ
का. श्रौ. सू. = कात्यायन श्रौत सूत्र
जै. मी. सू. भा. = जैमिनीय मीमांस सूत्र-भाष्य
तै. प्रा. = तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै. सं. = तैत्तिरीय संहिता
ना. शा. = नाट्य शास्त्र
ना. शि. = नारदीय शिक्षा
निरु. = निरुक्त
प. पा. = पदपाठ
पा. = पाणिनीय सूत्र
पा. म. = पाणिनीय सूत्रों पर महाभाष्य
पा. वा. = पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक
पा. सि. कौ. = पाणिनीय सूत्रों पर सिद्धान्त कौमुदी
पा. शि. = पाणिनि शिक्षा
प्रति. परि = प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्र
प्रा. प्र. शि. = प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा
फि. सू. = फिट् सूत्र
भा. परि. = भाषिक परिशिष्ट सूत्र
या. शि. = याज्ञवल्क्य शिक्षा
वा. प्रा. = वाजसनेयि प्रातिशाख्य
शि. सं. = शिक्षा संग्रह
सा. द. = साहित्य दर्पण
स्वरा. = स्वरानुक्रमणी

प्रथम अध्याय

वैदिक स्वर-परिचय

स्वरों का उच्चारण

जिसकी सहायता से वर्णों का उच्चारण किया जाता है, उसे स्वर कहते हैं। ये स्वर हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ ऐ औ। इनको पाणिनि की शब्दावलि में 'अच्' कहते हैं। इन स्वरों के भी उच्चारण करने के विविध प्रकार हैं। एक ही स्वर का कभी वर्णों के उच्चारण-स्थान के उच्च-भाग से, कभी निम्न-भाग से तथा कभी मध्यम-भाग से उच्चारण किया जा सकता है। ये ही उच्च, नीच तथा मध्यम स्वरोच्चारण-प्रकार स्वर-धर्म कहलाते हैं। धर्म और धर्मी के अतिशय सम्बन्ध के कारण ही इन स्वर-धर्मों को भी स्वर ही कहा जाता है। इस प्रकार इन स्वर-धर्मों का जो स्वरत्व है, वह लाक्षणिक है। वैदिक वाङ्मय का अधिकांश भाग गेय होने के कारण उसमें प्रयुक्त अच्-धर्म-रूप स्वरों के मुख्य तीन भेद हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन्हीं तीनों को त्रैस्वर्य कहा जाता है। वेद-मन्त्रों के उच्चारण में इसी त्रैस्वर्य का विधान है। इन तीन स्वरों के अतिरिक्त प्रचय नामक स्वर भी होता है, जिसे एकश्रुति भी कहा जाता है। इन स्वरों का परिचय इस प्रकार है—

उदात्त—उदात्त को उच्च स्वर माना जाता है। पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः (पा. १.२.२९), इस सूत्र के द्वारा उच्च स्वर से उदात्त के उच्चारण का विधान किया है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठविवर की संवृतता ही शब्द या वर्ण के उच्च

अर्थात् उदात्त के उच्चारण का कारण होती है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि उदात्त स्वर के उच्चारण में गात्रों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठ को दबाकर उच्चारण किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि को उदात्त स्वर के ये लक्षण स्वीकार्य नहीं। जो लोग उदात्त का उच्च स्वर में उच्चारण करना स्वीकार करते हैं, उनके विरुद्ध महाभाष्यकार का कहना है कि यह उच्च स्वर अनवस्थित है। एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है और किसी के लिये नीच हो सकता है।[2] इसलिए जो स्वर किसी के लिए नीच है, उसको उच्च कैसे कहा जा सकता है ? अगर वह उच्च है, तो उसका उच्चत्व सबके लिए और सदा के लिए होना चाहिए। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के मत को महाभाष्यकार ने अनैकान्तिक माना है। एक कमजोर व्यक्ति जिस ध्वनि का बहुत परिश्रमपूर्वक उच्चारण करता है, उसी ध्वनि का उच्चारण एक बलवान् व्यक्ति बहुत सरलता से करता है।[3] महाभाष्यकार का अपना मत है कि पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः के द्वारा उदात्त के उच्चारण की जो व्यवस्था दी है, उसका अभिप्राय यह है कि वर्णों के

---

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। तै.प्रा.२२.९।

२. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित्प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित्प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कञ्चिदधीयानमाह—किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह—किमन्तदन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाया अप्रसिद्धिः। पा. म. १.२.२९-३०।

३. एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्धयल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः। वही।
तथाहि—महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन्स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति।
कैय्यट, प्रदीप, १.२.२९.३०।

उच्चारण-स्थान के उच्चभाग से जब उच्चारण होता है तो वह उदात्त होता है।[4] वार्तिककार तथा महाभाष्यकार द्वारा दी गई उदात्त-उच्चारण की इस व्यवस्था को यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, किन्तु इसकी स्पष्टता में सबको सन्देह है। वर्णों के उच्चारण-स्थान के ऊर्ध्वभाग से किस प्रकार उच्चारण होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

उदात्त उच्च स्वर है, या मध्यम स्वर, इसके विषय में काफी मतभेद है। जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है, उदात्त (उत् आत्त) सर्वोच्च स्वर है। किन्तु 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार उदात्त मध्यम स्वर है, क्योंकि स्वरित का जो पूर्व उदात्तांश भाग होता है, वह उच्चारण में उदात्ततर होता है।[1] वास्तव में उदात्त चढ़ता हुआ (Rising) स्वर है। आज इसके उच्चारण में पर्याप्त भिन्नता आ गई है। सम्भवतः पहले इसका उच्चारण सर्वोच्च ध्वनि के रूप में किया जाता रहा होगा, किन्तु आज यह मध्यम (स्डटैण्डं) स्वर माना जाता है और इसी रूप में इसका उच्चारण होता है। स्टैण्डर्ड स्वर होने के कारण ही तीनों स्वरों में यह प्रमुख माना जाता है। पदों के अर्थ-निर्धारण में यही सहायक होता है। पदों में इसके स्थान-परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। स्वरों में प्रमुख स्थान होने के कारण ही इसका नित्य-स्वर या समास में प्रकृति-स्वर के नाम से उल्लेख किया जाता है।

---

४. सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात् [वा.]। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात्। समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति। पा.म.१.२.२९-३०।

प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन्वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः—एकस्मिन्स्तात्वादिके स्थाने ऊर्ध्वावरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः। कैय्यट, प्रदीप, १.२.२९-३०।

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ऋ. प्रा. ३.४।

अनुदात्त—अनुदात्त को नीच स्वर माना जाता है। पाणिनि ने नीचैरनुदात्तः (पा.१.२.३०), इस सूत्र के द्वारा नीच स्वर से अनुदात्त के उच्चारण का विधान किया है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता तथा कण्ठविवर की स्थूलता वर्ण के नीच उच्चारण का कारण होती है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि गात्रों को आरामदेह अवस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को आराम से विस्तारित करके अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है। वार्तिककार तथा महाभाष्यकार को अनुदात्त के ये लक्षण स्वीकार्य नहीं। वे इन लक्षणों को अनवस्थित तथा अनैकान्तिक मानते हैं। जिस प्रकार उच्च ध्वनि किसी के लिए नीच ध्वनि हो सकती है, उसी प्रकार नीच ध्वनि भी किसी के लिए उच्च हो सकती है। एक बलवान् व्यक्ति जिस ध्वनि का उच्चारण बहुत सरलता से बिना किसी परिश्रम के करता है, उसी ध्वनि का एक कमजोर व्यक्ति काफी परिश्रमपूर्वक उच्चारण करता है। महाभाष्यकार का अपना मत है कि पाणिनि ने नीचैरनुदात्तः के द्वारा अनुदात्त के उच्चारण की जो व्यवस्था दी है, उसका अभिप्राय यह है कि वर्णों के उच्चारण-स्थान के निम्नभाग से जब उच्चारण होता है तो वह अनुदात्त होता है।[2] महाभाष्यकार द्वारा दी गई अनुदात्त-उच्चारण की इस व्यवस्था को यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, किन्तु इस की स्पष्टता के विषय में सन्देह है। वर्णों के उच्चारण-स्थान के निम्नभाग से किस प्रकार उच्चारण होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो कैय्यट ने लिखा है कि बहुत अभ्यास के

---

१. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि। तै.प्रा.२२.१०।

२. पीछे द्रष्टव्य, पृ. २, टि. २-३।
एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ...... अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। कैय्यट, प्रदीप, १.२.२९-३०।

पश्चात् ही यह अन्तर जाना जा सकता है।[1]

अनुदात्त का अर्थ है जो उदात्त न हो। यह सबसे नीच स्वर है। इसी कारण इसको शिक्षा-ग्रन्थों में 'नीच स्वर' के नाम से पुकारा गया है। यह हमेशा उदात्त स्वर से पूर्व होता है। इसका उच्चारण जिस प्रकार पहले किया जाता था, उसी प्रकार आज भी किया जाता है। 'महाभाष्य' (१.२.३३) में अनुदात्त से भी निम्न अनुदात्ततर स्वर का उल्लेख किया गया है। भट्टोजि दीक्षित के अनुसार जिस अनुदात्त के परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो, वह अनुदात्त अनुदात्ततर होता है,[2] जैसे—सरस्वति शुतुद्रि (ति); व्यचक्षयत्स्वं(य), इत्यादि। पाणिनि ने इस अनुदात्ततर को सन्नतर की संज्ञा दी है।[3] 'नारदीय शिक्षा' में अनुदात्त से भिन्न एक निघात स्वर का उल्लेख किया गया है।[4] वास्तव में निघात शब्द अनुदात्त के लिये ही प्रयुक्त होता है, किन्तु सामान्य अनुदात्त से इसकी भिन्नता इस अर्थ में है कि सामान्य अनुदात्त प्रारम्भ में उदात्त से पूर्व होता है, जबकि निघात एकश्रुति या प्रचय का ही उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर अनुदात्त रूप में बना रहना है। इस प्रकार निघात अनुदात्ततर या सन्नतर का ही पर्याय है।

स्वरित[5]—स्वरित को मध्यम स्वर माना जाता है। पाणिनि ने

---

१. अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः। वही।
२. उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात्तस्यानुदात्तस्यानुदात्ततरः स्यात्।
पा.सि.कौ.१.२.४०. (३६६६)।
३. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। पा. १.२.४०।
४. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चधा॥ ना. शि. १.७.१९।
५. स्वरित के स्वरूप उसके भेद तथा उच्चारण के लिये द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक स्वरित'।

'समाहारः स्वरितः (पा.१.२.३१), इस सूत्र के द्वारा स्वरित को उदात्त और अनुदात्त का समाहार माना है। किन्तु स्वरित के उच्चारण के विषय में काफी मतभेद है। यह स्वतन्त्र स्वर है, या उदात्त और अनुदात्त का समाहार ही है, इसके विषय में भी काफी मतभेद है। वस्तुतः उदात्त और अनुदात्त का समाहार होने पर भी यह एक स्वतन्त्र स्वर है। जिस प्रकार त्रपु और ताम्र के संयोग से कांस्य की उत्पत्ति होती है, जो त्रपु और ताम्र दोनों से भिन्न है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के एकत्र समावेश से उदात्त और अनुदात्त पर ही आधारित, किन्तु दोनों से भिन्न, स्वरित नामक स्वर की उत्पत्ति होती है। उदात्त और अनुदात्त के समाहार रूप स्वरित में कितना उदात्तांश होता है तथा कितना अनुदात्तांश, इसके ऊपर प्रातिशाख्यकारों, शिक्षाकारों तथा वैयाकरणों ने पर्याप्त विवेचन किया है। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनुसार प्रारम्भ की एक मात्रा का अर्द्धभाग या सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग उदात्त होता है।[१] यहां प्रारम्भ की एक मात्रा के अर्द्धभाग, या सम्पूर्ण मात्रा के अर्द्धभाग का जो विकल्प दिया गया है उसे 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के भाष्यकार उवट व्यवस्थित विकल्प मानते हैं। उवट के अनुसार अर्द्धमात्रा काल ह्रस्व स्वरित के उदात्तांश में तथा सम्पूर्ण की अर्द्धमात्रा का काल दीर्घ स्वरित के उदात्तांश के उच्चारण में लगता है। इस प्रकार उवट के मत में प्रारम्भ में सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्ध-भाग चाहे स्वरित ह्रस्व हो चाहे दीर्घ, उदात्तांश होता है, और शेष अर्द्ध-भाग अनुदात्तांश। वस्तुतः 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में स्वरित के उदात्तांश के विषय में जो विकल्प दिया गया है, वह व्यवस्थित विकल्प न होकर दो सम्प्रदायों के मत का उल्लेख करता है। सम्भवतः 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के समय ऋग्वेदियों के दो सम्प्रदाय रहे होंगे, जिनमें से एक में प्रारम्भ की एक मात्रा के अर्द्धभाग को ही उदात्तांश माना जाता होगा, तथा दूसरे में सम्पूर्ण मात्रा का अर्द्धभाग उदात्तांश माना जाता होगा। 'ऋग्वेद प्राति-

---

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ऋ. प्रा. ३.४।

शाख्य' को अपने सम्प्रदाय के अनुसार प्रथम मत मान्य था। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' तथा पाणिनि के अनुसार भी स्वरित में प्रारम्भ की आधी ह्रस्व मात्रा उदात्त होती है,[1] शेष अनुदात्त। 'काशिका' में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि जब स्वरित ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी अनुदात्त, जब स्वरित दीर्घ है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त और जब स्वरित प्लुत है तो प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा अनुदात्त होगी।[2] प्रातिशाख्यकारों तथा वैयाकरणों ने स्वरित को समाहारात्मक मानकर उसमें उदात्त-अनुदात्त की जो व्यवस्था दी है, वह सभी स्वरितों के लिये है, या कुछ विशेष स्वरितों के लिये, इसमें काफी मतभेद दिखाई पड़ता है। प्रातिशाख्यों, व्याकरणों तथा उनके भाष्यकारों के विवेचन से तथा उनके उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि समाहारः स्वरितः, यह परिभाषा स्वतन्त्र स्वरित के लिये ही है, आश्रित स्वरित के लिये नहीं। मुख्य स्वरितत्व स्वतन्त्र स्वरित को ही प्राप्त है, आश्रित स्वरित का स्वरितत्व लाक्षणिक किंवा गौण है।[3] स्वरित के अन्तर्गत जो उदात्तांश है, उसका उच्चारण उदात्त से भी कुछ उच्चतर होता है। इसीलिये महाभाष्यकार ने उदात्त से भिन्न अलग स्वर के रूप में उदात्ततर स्वर का उल्लेख किया है।[4]

---

१. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य। तै. प्रा. १.४१। तस्यादित उदात्तमर्धं ह्रस्वम्। पा. १.२.३२।

२. द्रष्टव्य, काशिका, १.२.३२।

३. द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक स्वरित' के अन्तर्गत 'स्वरित का स्वरूप' नामक प्रथम अध्याय।

४. त एते तन्त्रे तरब्निर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति—उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः। पा. म. १.२.३३

प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में स्वरित के कई भेद मिलते हैं। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य', 'कौहलि शिक्षा', 'माण्डूकी शिक्षा', 'नारदीय शिक्षा' तथा 'शैशिरीय शिक्षा' में स्वरित के सात भेद बताये गये हैं। इन-में किसी-किसी स्वरित-भेद के नाम में अन्तर है। 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में स्वरित के आठ भेद बताये गये हैं। ये आठ स्वरित-भेद ये हैं—(१) जात्य, (२) अभिनिहित, (३) क्षैप्र, (४) प्रश्लिष्ट (५) तैरोव्यञ्जन, (६) तैरोविरामक, (७) पादवृत्त, तथा (८) ताथा-भाव्य। इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) सामान्य या नैमित्तिक स्वरित और (२) स्वतन्त्र स्वरित।

सामान्य स्वरित—उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित के रूप में बदल जाता है।[1] इसी स्वरित को सामान्य स्वरित कहते हैं। इसका स्वरितत्व पूर्ववर्ती उदात्त पर निर्भर करता है, इसीलिये उसे आश्रित स्वरित भी कहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका आश्रित स्वरित (Dependent Svarita) के नाम से ही उल्लेख किया है। इसको 'सांहितिक स्वरित या 'सन्निषिज स्वरित' भी कहते हैं। ये स्वरित वास्तव में अनुदात्त ही हैं। संहिता में अनुदात्त की ही छाया स्वरित-रूप में दिखाई पड़ती है, इसीलिए आचार्य विश्वबन्धु जी ने इसका 'छाया स्वरित' के नाम से उल्लेख किया है।[2] इन स्वरित-वर्ग के अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, तैरोविरामक, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य स्वरित आते हैं। प्रातिशाख्यों में इन स्वरित-भेदों के लक्षण एवं उदाहरण दिए गए हैं।[3] इन स्वरितों के परे यदि कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो ये स्वरित न होकर

---

१. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। पा. ८.४.६३; उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। तै. प्रा. १४.२९।
२. विश्वबन्धु : 'वेदसार' परिशिष्ट १, पृ. १५०।
३. द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक स्वरित' के अन्तर्गत 'स्व-रित के भेद' नामक द्वितीय अध्याय।

अनुदात्त ही रहते हैं।[1] किन्तु गार्ग्य, काश्यप तथा गालव इन आचार्यों के मत में उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे आने पर भी उदात्त के बाद आने वाला स्वरित स्वरित ही रहता है।

स्वतन्त्र स्वरित—यह स्वरित सामान्य स्वरित से भिन्न होता है। जिस प्रकार एक पद में एक उदात्त होता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वरित भी एक पद में एक ही होता है। यह स्वरित उदात्त के ही स्तर का होता है। जिस प्रकार उदात्त कभी अनुदात्तपूर्व या कभी अपूर्व होता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वरित भी अनुदात्तपूर्व या अपूर्व होता है। इस स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत चार स्वरित हैं—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट। इनको भी पुनः दो उपवर्गों में रखा जा सकता है—(१) संधिज और (२) असंधिज। पदान्तीय उदात्त तथा पदादि अनुदात्त की संधि से जो स्वरित[2] उत्पन्न होता है, उसे संधिज स्वरित कहते हैं, और जो स्वयं विना किसी संधि के पद में दिखाई पड़े, उसे असंधिज स्वरित कहते हैं। जात्य स्वरित असंधिज स्वरित है तथा अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट संधिज स्वरित हैं।[3] असंधिज स्वरित अर्थात् जात्य स्वरित निश्चित रूप से एक ही पद में होता है, जब कि संधिज स्वरित दो पदों की संधि में ही होता है। जात्य स्वरित की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह निश्चित रूप से संयुक्त वर्ण पर ही होता है, जिसका परवर्ती वर्ण निश्चित रूप से य् तथा व् होता है। पाणिनि ने जात्य स्वरित के लिये 'तित्स्वरितम्' (पा. ६. १. १८२) इस सूत्र का विधान किया है।

---

१. न चेदुदात्तं वोच्यते किंचित्स्वरितं वाक्षरं परम्। ऋ. प्रा.३.६; नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। पा. ८.४.६७।

२. तु० स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ। पा. ८.२.६।

३. द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक स्वरित' के अन्तर्गत 'स्वरित के भेद' नामक अध्याय; आगे 'संधि-स्वर प्रकरण' नामक अध्याय।

कम्पस्वर[1]—इन स्वतन्त्र स्वरितों (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट) में से किसी के भी पश्चात् उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो वहां स्वरित का उत्तरवर्ती अनुदात्तांश एकश्रुति न होकर अणु मात्राकाल के लिये निहत होता है। इस निहताणुक स्वर को नीच स्वरित भी कहते हैं। इसके उच्चारण में एक कम्पन होती है, जिसे कम्प कहते हैं।[2] 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार तैत्तिरीय शाखा की संहिता एवं ब्राह्मण में स्वतन्त्र स्वरित के बाद स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प होता है, उदात्त आने पर कम्प नहीं होता।[3] शुक्लयजुर्वेद की संहिताओं में भी कम्प नहीं होता, किन्तु कुछ आचार्य माध्यन्दिन शाखा की संहिता में ताथाभाव्य कम्प की सत्ता स्वीकार करते हैं।[4]

प्रचय—उपर्युक्त तीन स्वरों—उदात्त अनुदात्त और स्वरित—के अलावा एक प्रचय नामक स्वर भी होता है। इस प्रचय स्वर का प्रचित, प्रच, तान, निचित, उदात्तमय, उदात्तश्रुति, एकस्वर, एकश्रुति आदि अनेक नामों से उल्लेख मिलता है।[5] स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिये द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा' के अन्तर्गत 'कम्प स्वर' नामक अध्याय।

२. जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ ऋ.प्रा.३.३४।

३. द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः। तै.प्रा. १९.४।

४. अतो माध्यन्दिनानां पदकाले ताथाभाव्यसंज्ञकः कम्पो भवति। तथा चोक्तमौञ्जिहायनकर्माध्यन्दिनमतानुसारिभिः—
अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस् 'तनूऽनप्त्रे' निदर्शनम्॥
उवट, वा.प्रा.१.१२०।

५. स्वरितात्परमनुदात्तमेकमनेकं वाक्षरमुदात्तवत्। एकश्रुत्या उच्चारणीयं स्यात्। अयमेव प्रचयः प्रचितः प्रचो निचित उदात्तमय इति वैदिकैर्व्यवह्रियते। प्रा.प्र.शि.(शि.सं.)पृ.२१६।

की, चाहे एक हो यह अनेक, प्रचय संज्ञा होती है।[१] इसके उच्चारण के विषय में काफी मतभेद है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के भाष्य 'वैदिकाभरण' में प्रचय और स्वरित का अन्तर यह बताया गया है कि जो उदात्त और अनुदात्त के करणों से रहित हो, वह प्रचय होता है, तथा जो दोनों के समावेश से उत्पन्न हो, वह स्वरित होता है।[२] 'काशिका' के अनुसार प्रचय न तो उदात्त धर्मवाला होता है, न अनुदात्त धर्मवाला और न स्वरित धर्मवाला ही। वह तीनों का अभेद रूप होता है।[३] 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' के अनुसार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अतिशय सन्निकर्ष ही एकश्रुति है।[४] शौनक ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में प्रचय का उदात्त के समान उच्चारण करने का विधान किया है।[५] 'नारदीय शिक्षा' का भी यही मत है।[६] 'महाभाष्य' के वृत्तिकार कैय्यट उदात्त और अनुदात्त के मध्यवर्ती उच्चारण को एकश्रुति मानते हैं।[७] 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' के अनुसार

---

१. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। ऋ. प्रा. ३.१९।
स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्। पा. १.२.३९।

२. उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरित इति। वैदिकाभरण, २३.१९।

३. स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोधानमेकश्रुतिः।
काशिका, १.२.३३।

४. उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम्। आश्व. श्रौ. १.२.९।

५. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा॥ ऋ. प्रा. ३.१९।

६. य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात्परः।
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैः..........॥ ना. शि. १.८.२।

७. सैषा ज्ञापकाभ्यामुदात्तानुदात्तयोर्मध्यमेकश्रुतिरन्तरालं ह्रियते।
पा. महा. १.२.३३।

क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः। कैय्यट, प्रदीप, १.२.३३।

उदात्त और अनुदात्त का योग स्वरित होता है और दोनों का ऐक्य प्रचय।[१] 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' के अनुसार प्रचय में उदात्त धर्म का आधिक्य होता है।[२] कुछ आचार्य इसे अनुदात्तश्रुति भी मानते हैं। उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर यह सन्नतर हो जाता है, जो अनुदात्त का ही एक नाम है।

उपर्युक्त उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय नामक स्वरों में से चारों का प्रयोग कहीं-कहीं देखा जाता है और कहीं इनमें से कम का भी प्रयोग मिलता है।[३] ऋग्वेद, माध्यन्दिन-संहिता, काण्व-संहिता, सामवेद तथा अथर्ववेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों का ही उच्चारण होता है। इन संहिताओं में प्रचय होता है, किन्तु उदात्त के समान ही उच्चरित होने के कारण उसका अलग अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। इसीलिए इन संहिताओं में प्रयुक्त स्वर त्रैस्वर्य ही है। 'शतपथ ब्राह्मण' में उदात्त और अनुदात्त नामक दो स्वरों[४] का ही प्रयोग होता है, जिन्हें भाषिक स्वर कहा गया है। भाषिक-स्वर-नियम का विवेचन कात्यायन ने अपने 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' में किया है। इन दोनों का गाथास्वर के नाम से भी उल्लेख मिलता है।[५] 'शतपथ' में स्वरित तथा प्रचय नामक स्वरों का अभाव है। 'शतपथ' के स्वर की एक विशेषता यह है कि प्रायः संहिता में जो उदात्त स्वर होता है, वह

---

१. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेव मिथोऽद्भुतः। या.शि.(शि.सं.)२२८।

२. स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्तमयम्। वा.प्रा. ४.१३९।

३. ना.शि. १.१.९-११; प्रति. परि. ३.२५-६; तै. प्रा. २३.१८-२० पर वैदिकाभरण।

४. द्वौ। वा. प्रा. १.१२९; ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वारौ। प्रति. परि. १.८।

५. छन्दोगानां वाजसनेयिनां च ब्राह्मणे गाथास्वरौ प्रथमद्वितीयौ भवतः। शोभाकर मिश्र, ना. शि. व्याख्या १.१.१२।

'शतपथ' में अनुदात्त, तथा संहिता में जो अनुदात्त होता है वह यहां उदात्त हो जाता है। संहिता में जो सभी प्रकार के स्वरित हैं, वे 'शतपथ' ब्राह्मण में उदात्त स्वर में उच्चरित होते हैं।[1] 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' तथा 'नारदीय शिक्षा' से यह बात मालूम होती है कि 'ताण्ड्य' और 'भाल्लवी' ब्राह्मणों में भी 'शतपथ' के समान उदात्त और अनुदात्त नामक दो ही स्वरों का प्रयोग है।[2] कुछ वैदिक ग्रन्थों में एक ही स्वर का विधान है। इस एक स्वर को तान-स्वर कहते हैं। यह तान-स्वर एकश्रुति स्वर है, जिसका प्रचय, उदात्तश्रुति, उदात्तमय आदि अनेक नामों से उल्लेख किया गया है। जिन वैदिक ग्रन्थों में त्रैस्वर्य का विधान है, वहां भी इसका प्रयोग होता है, किन्तु त्रैस्वर्य की प्रधानता के कारण, और इसका भी उदात्तमय होने के कारण, इसका स्वतन्त्र रूप से वहां उच्चारण नहीं होता। किन्तु कई अवस्थाओं में केवल इसी स्वर का विधान मिलता है, त्रैस्वर्य का नहीं। पाणिनि तथा कात्यायन ने दूर से किसी को बुलाने में, यज्ञ में तथा वौषट् शब्द के उच्चारण में एकश्रुति स्वर का विधान किया है।[3]

---

१. द्रष्टव्य डा. ब्रजविहारी चौबे: 'शतपथ ब्राह्मण की स्वर प्रक्रिया एवं उसकी स्वर-ङ्कन पद्धति', 'स्टडीज्', राजस्थान विश्वविद्यालय पत्रिका, १९६८-९।

२. शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः। भा.परि.३.१५।
द्वितीयप्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ।
तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम्॥ ना. शि.१.१.१३।

३. एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ। पा.१.२.३३।
यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु। पा.१.२.३४।
उच्चैस्तरां वा वषट्कारः। पा. १. २.३५।
एकं सामजपन्यूङ्खवर्जम्। वा.प्रा.१.१३१।
एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि, सुब्रह्मण्यसामजपन्यूङ्खयाजमान-वर्जम्। का.श्रौ.सू.१.८.१९।

भट्टोजि दीक्षित ने ऋग्वेदियों के ब्राह्मण में एकश्रुति स्वर की सत्ता मानी है।[1]

स्वराङ्कनपद्धति

वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त जिन स्वरों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका सम्बन्ध उच्चारण के साथ है। गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा उनका प्रचलन मौखिक रूप से ही बहुत दिनों तक रहा, क्योंकि लिखने के प्रसाधनों का अभाव था और दूसरी बात कि जब लिखने के प्रसाधन उपलब्ध भी हो गए तब भी वैदिक भाषा की पवित्रता बनाये रखने के लिए उसका लिखकर अध्ययन या अध्यापन करना पाप समझा जाता था। फिर भी कब तक वैदिक भाषा मौखिक रूप से प्रचलित रहती? एक समय आया, जिसके विषय में हम निश्चित रूप से नहीं बता सकते कि कब, जबकि वैदिक वाङ्मय को वर्णों के माध्यम से लिखित रूप दिया गया। किन्तु जिन विविध स्वरों में इन वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता था, उनके अङ्कन में कोई नियमित एकरूपता प्राप्त नहीं हुई, यद्यपि विविध स्वर-चिह्न निर्धारित हुए। यही कारण है कि आज उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में जो स्वराङ्कन मिलता है वह सब में समान नहीं है। वैदिक वाङ्मय कब से लिखित रूप में आया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि यह बहुत बाद में लिखित रूप में आया होगा और तभी से इसके स्वराङ्कन की पद्धति भी चली होगी। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता, जो इन स्वर-चिह्नों के उस समय में प्रचलित होने की बात सिद्ध कर सके। ये स्वर-चिह्न कब से

---

१. संहितायां त्रैस्वर्यम्। ब्राह्मणे एकश्रुतिर्बह्वृचानाम्। अन्येषामपि यथासम्प्रदायं व्यवस्था। पा.सि.कौ. १.२.३६ (३६६२)।
द्र. ततोऽन्येषामपि ब्राह्मणस्वरः। प्रति.परि. ३.२७।

प्रचलित हुए, इस विषय में न जाकर हम यहां देखेंगे कि उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में इन विविध स्वरों के अङ्कन का प्रकार क्या है।

उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में जो स्वराङ्कित हैं, वे हैं—'ऋग्वेद-संहिता' (शाकल), शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन एवं काण्व संहितायें तथा उनके ब्राह्मण (जो 'शतपथ' इस सामान्य नाम से विख्यात हैं), कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित), 'मैत्रायणी-संहिता' (आरण्यक-सहित), 'काठक-संहिता' (ब्राह्मण सहित) 'कपिष्ठल-कठ-संहिता', 'सामवेद-संहिता' (कौथुम और जैमिनीय) तथा 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक तथा पैप्पलाद)। इन ग्रन्थों में स्वराङ्कन-प्रकार एक जैसा नहीं। एक ग्रन्थ में जो स्वरित का चिह्न है वही दूसरे में उदात्त का चिह्न माना जाता है और एक में जो अनुदात्त का चिह्न है, वह दूसरे में उदात्त का चिह्न माना जाता है। वैदिक वाङ्मय में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि को किस प्रकार से चिह्नित किया जाता है, इनका इसी क्रम से हम विवेचन करेंगे।

उदात्त—'ऋग्वेद-संहिता' (शाकल), 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक) 'माध्यंदिन-संहिता', 'काण्व-संहिता', 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित), 'मैत्रायणी-आरण्यक' तथा 'शतपथ ब्राह्मण' (माध्यन्दिन और काण्व दोनों) में उदात्त स्वर को अचिह्नित छोड़ दिया जाता है, जैसे—अ॒ग्निः। यहां 'नि' उदात्त है और इसे अचिह्नित छोड़ दिया गया है। सम्भवतः उदात्त को स्टैण्डर्ड स्वर मान कर इसे चिह्नित नहीं किया जाता। इससे नीच या ऊंच स्वरों को अपेक्षाकृत नीच या उच्च दिखाने के लिये अनुदात्त तथा स्वरित को चिह्नित करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के बिना चिह्न वाले वर्ण को वेबर कलान्द, मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वान् तथा अधिकांश भारतीय विद्वान् भी अनुदात्त या स्वरित समझते हैं। उनकी दृष्टि में वर्ण के नीचे जो पड़ी रेखा का चिह्न है, वह 'शतपथ' में उदात्त का चिह्न है,

जैसे—अग्निः। किन्तु 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' के अनुसार उदात्त स्वर 'अ' पर है 'नि' पर नहीं।[1]

कृष्ण यजुर्वेद की 'काठक-संहिता' (जो कहीं-कहीं स्वराङ्कित है), 'मैत्रायणी-संहिता' कश्मीर में प्रचलित 'ऋग्वेद-संहिता, तथा पैप्पलाद शाखा की 'अथर्ववेद-संहिता' में उदात्त वर्ण को ऊपर खड़ी रेखा के चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे—अग्निः। यहां 'नि' के ऊपर जो खड़ी रेखा का चिह्न है वह उदात्त का है। सम्भवतः इनमें उदात्त को सर्वोच्च स्वर माना जाता है, इसीलिये इसे वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है।

सामवेद में उदात्त वर्ण को ऊपर १ के अङ्क से चिह्नित करते हैं। जैसे—यज्ञायज्ञा(ज्ञा)। जब उदात्त के पश्चात् कोई अनुदात्त वर्ण आवे तो उस उदात्त को वर्ण के ऊपर १ के अङ्क से अङ्कित न कर २ से अङ्कित करते हैं, जैसे—वयमेमृते (ये)। इसी प्रकार एक या अधिक उदात्त वर्ण पाद के अन्त में आवें तो प्रथम उदात्त को वर्ण के ऊपर २ के अङ्क से चिह्नित करते हैं और शेष को अचिह्नित छोड़ देते हैं, जैसे—महाँ हि षः (हाँ)। यदि अनेक उदात्त लगातार आवें और उनके बाद अनुदात्त वर्ण आवे तो प्रथम उदात्त को वर्ण के ऊपर '२उ' से चिह्नित करते हैं और दूसरों को अचिह्नित छोड़ देते हैं, जैसे—त्वमित्सप्रथा (त्व)। जब अनेक उदात्त लगातार आवें और उनके बाद स्वरित आवे तो प्रथम उदात्त को वर्ण के ऊपर १र से चिह्नित करते हैं और दूसरों को अचिह्नित छोड़ देते हैं, जैसे— मित्रं न शंशिषम् (त्रं)।

अनुदात्त—'ऋग्वेद-संहिता' (शाकल), 'अथर्ववेद-संहिता' (शौनक) 'माध्यन्दिन-संहिता', 'काण्व-संहिता', 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित), तथा 'मैत्रायणी-आरण्यक' में अनुदात्त

---

१. द्रष्टव्य, डा. व्रजविहारी चौबे: 'शतपथ ब्राह्मण की स्वरप्रक्रिया एवं उसकी स्वराङ्कन पद्धति', 'स्टडीज्', राजस्थान विश्वविद्यालय पत्रिका, १९६८-६९।

स्वर को वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, जैसे—अग्निः। 'शतपथ ब्राह्मण' (माध्यन्दिन एवं काण्व दोनों) में अनुदात्त को अचिह्नित माना जाता है, किन्तु यह मत गलत है।[1] वस्तुतः, इसमें अनुदात्त को वर्ण के नीचे पड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं, जैसे—अग्निः। 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' के अनुसार अग्निः पद में अ उदात्त है और नि अनुदात्त है।

पैप्पलाद शाखा की 'अथर्ववेद-संहिता' में अनुदात्त स्वर को वर्ण के नीचे खड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं, जैसे—अग्निः(अ)। 'ऋग्वेद-संहिता' के कश्मीर-पाठ में अनुदात्त को अचिह्नित छोड़ दिया जाता है,[2] जैसे—अग्निः (अ)।

सामवेद में अनुदात्त को वर्ण के ऊपर ३ के अङ्क द्वारा चिह्नित करते हैं, जैसे—यजायजा (यँ)। स्वतन्त्र स्वरित से पूर्ववर्ती अनुदात्त को वर्ण के ऊपर ३क से चिह्नित किया जाता है, जैसे—अभ्येति रेभन् (अ)। यदि दो या अधिक अनुदात्त लगातार आवें और उनके बाद उदात्त वर्ण आवे तो प्रथम अनुदात्त वर्ण के ऊपर ३ के अङ्क से चिह्नित किया जाता है और शेष को अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। जैसे—जैनिताग्नेः (जैनि)।

स्वरित — 'ऋग्वेद-संहिता' (शाकल), 'काण्व-संहिता' तथा 'तैत्तिरीय-संहिता' (ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित) में सभी स्वरितों को वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, जैसे—अग्निना, कन्या, इत्यादि। 'माध्यन्दिन-संहिता' में सामान्य या आश्रित स्वरित को तो वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं, किन्तु स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित न कर वर्ण के नीचे एक समकोण (L) के चिह्न से अंकित करते हैं, जैसे—यातुधान्यः (न्यः)। यदि स्वतन्त्र

---

१. वही।

२. 'ऋग्वेद-संहिता' (पूना संस्करण) भाग ४ के परिशिष्ट में दिए गये खिल-सूक्तों में स्वराङ्कन कश्मीर-पाठ के अनुसार है।

स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो, तो उस स्वरित को वर्ण के नीचे अंग्रेजी के डबल्यू (ᵚ) जैसे चिह्न से अंकित करते हैं। जैसे—तुन्वा शन्तमया (न्वा)।

'शतपथ ब्राह्मण' में स्वरित की सत्ता ही नहीं। इसलिये इसका कोई चिह्न नहीं। वेबर ने अपने 'शतपथ ब्राह्मण' के संस्करण में स्वतन्त्र स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण के नीचे दो पड़ी रेखाओं से चिह्नित किया है, जैसे—वीर्यम्।

अथर्ववेद (शौनक) में सामान्य या आश्रित स्वरित को तो वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं, किन्तु स्वतन्त्र स्वरित को, यदि वह अनुदात्त से पूर्व है, या उसके परे कोई स्वर नहीं है, तो वर्ण के आगे (ऽ) इस चिह्न से चिह्नित करते है जैसे—दिवीऽ व (वीऽ), स्वऽ, इत्यादि। पैप्पलाद शाखा की 'अथर्ववेद-संहिता' में सामान्य स्वरित को वर्ण के नीचे बिन्दु लगाकर चिह्नित किया जाता है, जैसे—कामो दाता। किन्तु स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के नीचे समकोण (L) के चिन्ह से अङ्कित किया जाता है, जैसे—तन्वा शन्तमया (न्वा)।

'मैत्रायणी-संहिता' में सामान्य स्वरित को वर्ण के नीचे अंग्रेजी के डबल्यू (ᵚ) जैसे चिह्न से चिह्नित करते हैं, जैसे—अग्निना (ना)। अनुदात्त से पूर्व सामान्य स्वरित को वर्ण के नीचे समकोण (L) के चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे—वसिष्ठो (सि)। स्वतन्त्र स्वरित को 'मैत्रायणी-संहिता' में वर्ण के नीचे अर्द्ध चन्द्र (◡) से चिह्नित करते हैं, जैसे—ह्वस्मिन् (ह्व)।

सामवेद में सामान्य स्वरित वर्ण के ऊपर २ के अङ्क से चिह्नित किया जाता हैं, जैसे—यंजायंज्ञा (यं)। यदि दो या दो से अधिक उदात्त के बाद स्वरित आता है तो उसे वर्ण के ऊपर २र से चिह्नित किया जाता है, जैसे—ब्रह्मा कस्तं सपर्यति (स)। यदि स्वतन्त्र स्वरित से पूर्व कोई उदात्त वर्ण न हो और उसके परे अनुदात्त, एकश्रुति या अवसान हो, तो उस स्वतन्त्र स्वरित को भी वर्ण के ऊपर २र से अङ्कित

करते हैं, जैसे—अभ्येति रेभन् (भ्ये)।

कम्प स्वर—स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट) के ठीक बाद यदि कोई उदात्त स्वर या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो उस स्वतन्त्र स्वरित के अन्तिम अनुदात्तांश को कम्प होता है, और उस कम्प को विशेप प्रकार से दर्शाया जाता है। ऋग्वेद (शाकल) में कम्प स्वर को स्वरित वर्ण के आगे १ या ३ के द्वारा चिह्नित किया जाता है। यदि स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर है तो उसे १ के द्वारा तथा यदि दीर्घ वर्ण पर है तो ३ के द्वारा दिखाते हैं।[1] दोनों अवस्थाओं में अङ्क के ऊपर खड़ी रेखा से तथा नीचे पड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं। ह्रस्व कम्प और दीर्घ कम्प के अङ्कन में एक अन्तर यह भी है कि ह्रस्व स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण पर कोई चिह्न नहीं लगाते, जबकि दीर्घ स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा का चिह्न लगाते है, जैसे—अप्स्व १ न्तः, पुरुस्पृ्हा ३ रथा, इत्यादि। ऋग्वेद के कश्मीर-पाठ में कम्प को सर्वत्र, चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ, ३ के द्वारा दर्शाते हैं। यहां अंक के ऊपर स्वरित का चिह्न नहीं होता।

अथर्ववेद (शौनक) में ह्रस्व कम्प को स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा तथा वर्ण के आगे १ के अङ्क से चिह्नित किया जाता है, जैसे—अप्स्व १ न्तः। दीर्घ कम्प को ऋग्वेद जैसा ही चिह्नित करते हैं। अथर्ववेद(पैप्पलाद)में कम्प नहीं होता; यहां उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के नीचे एक समकोण जैसे चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे—तन्वा शन्तमया(न्वा)।

'तैत्तिरीय-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित के बाद यदि उदात्त आता है तो कम्प नहीं होता, अतएव वहां उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को सामान्य स्वरित जैसा ही दर्शाया जाता है, किन्तु स्वतन्त्र स्वरित के बाद स्वतन्त्र स्वरित आने पर यहां कम्प होता है, जिसे स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के आगे १ के द्वारा दर्शाया जाता है, चाहे स्वरित ह्रस्व वर्ण पर हो, चाहे दीर्घ वर्ण पर। यहां स्वतन्त्र स्वरित को भी अथर्ववेद

---

१. ऋग्वेद में इसका केवल एक अपवाद मिलता है—ये १ रा(ऋ.वे.१०.७८.४)।

के ह्रस्व कम्प के समान वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, इसलिए अङ्क के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न नहीं देते, केवल अङ्क के नीचे ही पड़ी रेखा का चिह्न लगाते है, जैसे—अ॒प्सु॒दे॒व॒त्यों १ द्यौंष।

'वाजसनेयि-संहिता' (माध्यन्दिन) तथा 'काठक-संहिता' में कम्प नहीं होता, यद्यपि उदात्तपर स्वतन्त्र स्वरित को सामान्य स्वतन्त्र स्वरित से भिन्न प्रकार से दिखाते हैं। यहां स्वतन्त्र स्वरित को उदात्तपर होने पर वर्ण के नीचे डवल्यू (ᴗ) जैसे चिह्न से अङ्कित करते हैं। जैसे—तन्वा शन्तमया (तु. तन्वा)। 'काण्व-संहिता' में सामान्य स्वरित तथा स्वतन्त्र स्वरित एक ही स्तर के होते हैं, इसलिए उदात्तपर होने पर अनुदात्त में परिवर्तित हो जाते हैं, यहां कम्प नहीं होता। 'मैत्रायणी-संहिता' में कम्प को स्वतन्त्र स्वरित वर्ण के नीचे पड़ी रेखा तथा वर्ण से पूर्व ३ के अङ्क द्वारा दर्शाते हैं, चाहे स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर हो, चाहे दीर्घ वर्ण पर, जैसे—अक्षितु ३ व्या नं।[1] 'कपिष्ठल-कठ-संहिता' में स्वतन्त्र स्वरित को उदात्तपर होने पर 'काण्व-संहिता' के समान वर्ण के नीचे पड़ी रेखा से ही चिह्नित किया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहां स्वतन्त्र स्वरित यदि ह्रस्व वर्ण पर है, तो वह दीर्घ हो जाता है, जैसे—उ॒र्वा॑न्तरि॑क्षम्, अ॒प्स्वा॒न्तः, इत्यादि।

सामवेद में कम्प स्वर को, चाहे स्वतन्त्र स्वरित ह्रस्व वर्ण पर हो, चाहे दीर्घ वर्ण पर, स्वरित वर्ण के आगे ३ के अङ्क द्वारा दर्शाया जाता है और स्वतन्त्र स्वरित वाला वर्ण निश्चित रूप से दीर्घ हो जाता है। यदि स्वतन्त्र स्वरित अनुदात्तपूर्व है तो स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण के ऊपर २ का अङ्क लगाते हैं, जैसे—पौंख्ये ३वं। किन्तु यदि स्वतन्त्र स्वरित उदात्तपूर्व है तो वर्ण के ऊपर २ का अङ्क नहीं, लगाते, जैसे—स्वं ह्या ३ङ्गे।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में तथा 'कठ-कपिष्ठल' एवं 'काठक-संहिता' के

---

१. श्रादर ने 'मैत्रायणी-संहिता' के संस्करण में स्वरित वर्ण के पूर्व केवल ३ का अङ्क ही दिया है, वर्ण के नीचे पड़ी रेखा नहीं।

ब्राह्मण-भाग में कम्प स्वर को अपनी संहितावत् दर्शाया जाता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कम्प स्वर के लिए कोई चिह्न नहीं।

प्रचय स्वर—प्रायः सभी संहिताओं तथा ब्राह्मणों में, जिनमें स्वराङ्कन है, प्रचय स्वर को अचिह्नित ही छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में उदात्त अचिह्नित है उसके साथ प्रचय को भी अचिह्नित देखकर सामान्य विद्यार्थी को यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि कौन अचिह्नित वर्ण उदात्त है तथा कौन अचिह्नित वर्ण प्रचय। इस सन्देह के निवारण के लिए उदात्त और प्रचय के उत्तरोक्त अन्तर को जान लेना आवश्यक है—

(१) पाद के आदि में आने वाला अचिह्नित वर्ण उदात्त होता है, जैसे—बृहस्पते प्रथमम् (बृ)।

(२) जिस अचिह्नित वर्ण से पूर्व अनुदात्त का चिह्न हो, वह वर्ण उदात्त होता है, जैसे—अग्निम् (ग्नि)।

(३) सामान्य स्वरित से पूर्व आने वाला विना चिह्न वाला वर्ण उदात्त होता है, जैसे—इन्द्रः (इ)।

(४) दो अनुदात्तों के बीच आने वाला विना चिह्न का वर्ण उदात्त होता है, जैसे—अस्य पीत्वा (स्य)।

उपर्युक्त अवस्थाओं के अतिरिक्त आने वाला अचिह्नित वर्ण निश्चित रूप से प्रचय होता है। यह निश्चित रूप से स्वरित के बाद आता है। स्वरित के बाद आने वाले अचिह्नित वर्ण, चाहे एक हो, या अनेक हों, प्रचय होते हैं, जैसे—बृहस्पते प्रथमम्। इस उदाहरण में ह के बाद और थ से पूर्व के सभी अचिह्नित वर्ण प्रचय हैं।



द्वितीय अध्याय

सामान्य स्वर-नियम

प्रत्येक पद में एक मुख्य स्वर

स्वर की दृष्टि से संहितागत मन्त्र का एक पूरा पाद या अर्द्धर्च एक इकाई माना जाता है। प्रत्येक पाद या अर्द्धर्च में कई पद होते हैं, जिनमें उनके अपने कुछ मूल स्वर होते हैं तथा कुछ सांहितिक स्वर। उदात्त तथा स्वतन्त्र स्वरित मूल स्वर कहलाते हैं और अनुदात्त एवं सामान्य स्वरित सांहितिक स्वर कहलाते हैं, क्योंकि ये सांहितिक धर्म के कारण परिवर्तित होते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक पद में एक वर्ण को छोड़कर शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं।[1] कुछ पद ऐसे होते हैं जो सर्वदा अनुदात्त ही होते हैं तथा कुछ पद ऐसे होते हैं जो अवस्था-विशेष में उदात्तयुक्त होते हैं, अन्यत्र सर्वानुदात्त। कुछ पद ऐसे हैं जिनमें एक से अधिक वर्ण उदात्त होते हैं। ऐसे पद सामान्य नियम के अपवाद रूप में हैं।

स्वरों का क्रम—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन स्वरों को पद में स्थान की दृष्टि से अनुदात्त, उदात्त तथा सामान्य स्वरित इस क्रम में रखा जाता है। यदि एक पद में उदात्त, अनुदात्त तथा सामान्य स्वरित तीनों स्वर हैं, तो अनुदात्त पूर्व में होगा, उदात्त बीच में तथा सामान्य स्वरित बाद में, जैसे—गुणानाम्। इस नियम में कभी व्यवधान नहीं देखा जाता। हां, यदि द्व्युदात्त पद होगा, तो वहां इस नियम में व्यवधान हो जाता है, जैसे—बृहस्पतिः। यदि एक पद में अनुदात्त और उदात्त दो ही स्वर हैं तो अनुदात्त पूर्व में होगा तथा उदात्त बाद में, जैसे—अग्निम्। यदि एक पद में उदात्त

---

1. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। पा. ६.१.१५८।
   स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्। अनुदात्तम्। वा.प्रा. १.१-२।

और सामान्य स्वरित दो ही स्वर हैं तो उदात्त पूर्व में होगा और सामान्य स्वरित बाद में, जैसे — इन्द्रः।

अनुदात्त का स्वरित और प्रचय में परिवर्तन

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, प्रायः प्रत्येक पद में एक उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण को छोड़कर शेष सभी वर्ण अनुदात्त होते हैं, जो कभी कभी स्वरित या प्रचय के रूप में बदल जाते हैं। उदात्त से पूर्ववर्ती अनुदात्त तो ज्यों का त्यों रह जाता है, किन्तु परवर्ती अनुदात्त सामान्य स्वरितमें परिवर्तित हो जाता है।[1] जैसे — गुणानां त्वा। यहां गुणानां में णा को उदात्त स्वर है। इसे छोड़कर शेष ग, नां वर्ण अनुदात्त होने चाहियें, किन्तु नां को उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, इस सूत्र के अनुसार स्वरित हो गया है। किन्तु यदि उस अनुदात्त के आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आ जावे तो वह स्वरित में परिवर्तित न हो कर ज्यों का त्यों अनुदात्त रूप में ही पड़ा रहता है, जैसे—विश्वा भुवनानि। यहां विश्वा पद में वि उदात्त है तथा श्वा मूलतः अनुदात्त है। उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, इस नियम के अनुसार श्वा को स्वरित होना चाहिये, किन्तु परवर्ती उदात्त के कारण वह स्वरित न होकर अनुदात्त ही रह गया है। गार्ग्य, काश्यप तथा गालव इन आचार्यों के अनुसार उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर भी स्वरित हो जाता है।[2] स्वरित के बाद आने वाले एक या अनेक अनुदात्तों की प्रचय संज्ञा होती है[3] और उनको अचिह्नित ही छोड़ दिया जाता है। जब कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित इनके बाद आता है तो केवल उदात्त

---

१. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ ऋ.प्रा. ३.१७।
उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। पा. ८.४.६६।

२. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। पा. ८.४.६७।

३. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा॥ ऋ.प्रा. ३.१९।

या स्वतन्त्र स्वरित से ठीक पूर्ववर्ती एक ही वर्ण अनुदात्त होता है,[1] शेष की उदात्तश्रुति होती है। जैसे— बृहस्पते देवनिदो। यहां ह के बाद 'नि' से पूर्व सभी प्रचय थे, किन्तु नि उदात्त होने के कारण उससे ठीक पूर्ववर्ती वर्ण व अनुदात्त हो गया है, शेष सभी प्रचय के रूप में अचिह्नित ही हैं। शाकल-शाखा से भिन्न शाखा वाले आचार्य प्रचय और उदात्त का अलग-अलग उच्चारण दिखाने को ही उदात्तपर प्रचय को अनुदात्त करने का कारण बताते हैं।[2] किन्तु कुछ आचार्य स्वरित के बाद आने वाले सभी प्रचय वर्णों को अनुदात्त ही मानते हैं, जो शाकल-शाखा को मान्य नहीं।[3]

मुख्य स्वर की दृष्टि से पदों के भेद

जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, स्वर की दृष्टि से पद मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—(१) एकोदात्त पद, (२) बहूदात्त पद, तथा (३) सर्वानुदात्त पद।

(१) एकोदात्त पद—

जिन पदों में 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्', इस नियम के अनुसार एक वर्ण उदात्त होता है, उन पदों को एकोदात्त पद कहते हैं। जब तक किसी अवस्था या नियम का विशेष रूप से उल्लेख न किया गया हो, तब तक प्रायः प्रत्येक पद एकोदात्त ही होता है। उदात्त तथा स्वतन्त्र स्वरित चूँकि अर्थ के नियामक मुख्य स्वर हैं, इसलिये एक पद में ये प्रायः एक ही होते हैं। एकोदात्त पद के चार रूपों का उल्लेख उवट ने किया है— (१) आद्युदात्त पद, जैसे—इन्द्रः, होता, इत्यादि,

---

१. नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम्। ऋ.प्रा. ३.२१।

२. नियमं कारणादेके प्रचयस्वरधर्मवत्।
प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्यतरेययोः॥ ऋ.प्रा. ३.२२।

३. केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्ततोऽक्षरम्। आ वा शेषात्।
ऋ.प्रा. ३.२०।

(२) मध्योदात्त पद, जैसे—अग्निना, इत्यादि, (३) अन्तोदात्त पद, जैसे—अग्निः, जनिता, इत्यादि, तथा (४) उदात्त पद, जैसे—यः, नु, कः, इत्यादि।

(ख) पाणिनि ने अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, इस सूत्र के द्वारा जिस सामान्य-स्वर नियम का विधान किया है, उसमें इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि वह एक वर्ण उदात्त है या स्वतन्त्र स्वरित। वस्तुतः, उदात्त का प्रयोग पदों में अधिक होता है, इसलिये यहां एक वर्ण का अभिप्राय उदात्त ही समझा जाता है। किन्तु इस एक वर्ण से स्वतन्त्र स्वरित का भी बोध होता है, क्योंकि एक पद में स्वतन्त्र स्वरित भी एक ही वर्ण पर होता है।[१] एक पद में अनेक वर्णों पर स्वतन्त्र स्वरित नहीं होता। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् में एक का अभिप्राय उदात्त ग्रहण करने से उसका अपवाद मिल सकता है, क्योंकि एक पद में एक से अधिक उदात्त की सत्ता भी कतिपय पदों में मिलती है, किन्तु ऐसा कोई पद नहीं मिलता जिसमें एक से अधिक स्वतन्त्र स्वरित हों। इस प्रकार उदात्त की भांति स्वतन्त्र स्वरित का भी प्रयोग पद में चार प्रकार से मिलता है—(१) आदि-स्वरित-पद, जैसे—स्वर्णरे, (२) मध्य-स्वरित-पद, जैसे—हृदुय्यया, (३) अन्त-स्वरित-पद, जैसे—कुन्या तथा (४) केवल-स्वरित-पद, जैसे—स्वं, स्वः, इत्यादि।

(२) बहूदात्त पद—

सामान्य रूप से प्रत्येक पद में एक वर्ण उदात्त धर्म वाला होता है, किन्तु कुछ पद ऐसे हैं जिनमें एक से अधिक वर्ण उदात्त होते हैं। ऐसे पदों को बहूदात्त पद कहते हैं। बहूदात्त पद दो प्रकार के हैं—एक, द्व्युदात्त तथा दूसरा, त्र्युदात्त।

(क) द्व्युदात्त पद—(१) देवताद्वन्द्व समास वाले पद यदि सम्बोधन में न हों तो कुछ अपवादों को छोड़कर द्व्युदात्त होते हैं,[१] जैसे—मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणौ, ...ादि।

---

१. स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्। वा. प्रा. १.१।

१. देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि। वा. प्रा. २.४८।
देवताद्वन्द्वे च। पा. ६.२.१४१। विशेष द्रष्टव्य, समास-स्वर-प्रकरण।

(२) समास का पूर्वपद यदि षष्ठी (लुक् या अलुक्) विभक्ति में हो तो वह समस्तपद द्व्युदात्त होता है,[1] जैसे—बृहस्पतिः, वनस्पतिः, इत्यादि। पाणिनि के अनुसार वनस्पत्यादि गण में जितने शब्द हैं वे द्व्युदात्त होते हैं।[2]

(३) तवै प्रत्ययान्त पद द्व्युदात्त होते हैं,[3] जैसे— एतवै, अपमर्तवै, इत्यादि।

(४) ब्राह्मण में वाव निपात भी द्व्युदात्त होता है।

(ख) त्र्युदात्त पद — (१) द्व्युदात्त पदों के साथ देवताद्वन्द्व समास होने पर तीन वर्ण उदात्त होते हैं, जैसे—इन्द्राबृहस्पती, इत्यादि।[4]

(२) अग्नाऽइ, लाजी३न् तथा शाची३न् ये तीन पद सर्वोदात्त होते हैं।[5] प्रणव भी सर्वोदात्त होता है।[6]

(३) सर्वानुदात्त पद—

सर्वानुदात्त पद दो प्रकार के हैं—एक तो वे हैं जो कभी भी उदात्त नहीं होते, हमेशा अनुदात्त ही रहते हैं, और दूसरे वे हैं जो अवस्था-विशेष में उदात्तयुक्त होते हैं और किसी अवस्था में सर्वानुदात्त भी हो जाते हैं।

(क) हमेशा सर्वानुदात्त पद—

(१) अस्मद् तथा युष्मद् सर्वनाम पदों के द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी के तीनों वचनों में जो आदेश रूप होते हैं वे हमेशा अनुदात्त होते

---

१. मैकडानल : 'वैदिक ग्रामर', पृ. ८१।
२. उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्। पा. ६.२.१४०।
३. तवै चान्तश्च युगपत्। पा. ६. २. ५१
४. इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि। वा. प्रा. २.४९।
५. सर्वमग्नाऽ३इ लाजी३ञ्छाची३निति त्रिमात्रापि च। वा. प्रा.२.५०।
६. प्रणवश्च। वा. प्रा. २. ५१।

हैं[1]—मा, नौ, नः ; मे, नौ, नः; त्वा, वाम् वः; ते, वाम्, वः ।

(२) च, वा, इव, उ, घ, ह चिद्, भल, समह, स्म तथा स्वित् , ये निपात हमेशा अनुदात्त होते हैं ।[2]

(३) त्व,[3] सम, ईम् तथा सीम् हमेशा अनुदात्त होते हैं ।

(४) नकिः तथा माकिः में किः और आकीम् , नकीम् तथा माकीम् में कीम् हमेशा अनुदात्त होते हैं ।[4]

(५) द्विरुक्त समास का उत्तरपद हमेशा अनुदात्त होता है,[5] जैसे—दिवेदिवे, प्रप्र, पिबपिब, इत्यादि ।

(ख) अवस्था-विशेष में सर्वानुदात्त पद—

(१) इदम् सर्वनाम शब्द का तृतीयादि विभक्तियों में जो अश्

---

१. युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थी द्वितीयास्थयोर्वांनावौ । बहुवचनस्य वस्नसौ । तेमयावेकवचनस्य । त्वामौ द्वितीयायाः । पा.८.१.२०-२३; नो नौ मे मदर्थे त्रिद्व्येकेषु । मा च । वो वान्ते त्वदर्थे । त्वा च । वा.प्रा.२.३-६; अनुदात्तं सर्वमपादादौ । पा.८.१.१८ ।

भवन्ति सर्वानुदात्ता आदेशा युष्मदस्मदोः ।
भवन्ति चेद् वाक्यमध्ये वाम्नौ वो नश्च तेमयौ ।।

वेंकट, ऋ.दी.१.८१.१, उपक्र.श्लो.२ ।

२. चादयोऽनुदात्ताः । फि. सू. ८४ ।

चादीनां वाक्यमध्यस्थाश्चवाहस्मादयस्तथा ।

वेंकट., ऋ.दी.१.८१.१, उपक्र.श्लो.३ ।

३. त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम उदात्तम् । निरु. १.७ ।
निपात इत्येके तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । वही, १.८ ।

४. तु. निपाता आद्युदात्ताः । फि.सू. ८१ ।

५. अनुदात्तं च । पा. ८.१.३ ।

आदेश होता है, वह अन्वादेश[1] होने पर तथा पाद के प्रारम्भ में न आने पर सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे—युञ्जन्त्यस्य का॒म्या (ऋ.वे.१.६.२); त्रिरस्य ता पर॒मा (ऋ.वे.४.१.७) ; किन्तु अन्वादेश न होने पर, या पाद के प्रारम्भ में आने पर वह उदात्तयुक्त होगा, जैसे—अ॒स्य वा॒मस्य॑ (ऋ.वे.१.१६४.१); अ॒स्येदु मा॒तुः सव॑नेषु (ऋ.वे.१.६१.७), इत्यादि।

एक ही ऋचा में अन्वादेश होता है, यह कोई आवश्यक नहीं। भिन्न ऋचाओं में भी यह हो सकता है।[3] इसी प्रकार यह सर्वत्र पाद के मध्य भी नहीं होता, क्योंकि पाद के मध्य में उदात्त भी दिखाई पड़ता है।[4] पाद के प्रारम्भ में कहीं भी सर्वानुदात्त अ॒स्य॒ पद नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु पाद के मध्य में उदात्तयुक्त अ॒स्य पद बहुत मिलते हैं।[5] पाद के प्रारम्भ में

---

१. व्यक्ति का एक बार कथन करने के बाद उसके स्थान पर सर्वनाम पद का प्रयोग अन्वादेश कहलाता है। वेंकट माधव ने अन्वादेश का लक्षण इस प्रकार बताया है—
पूर्वस्मिन् प्रकृतो वाक्ये वाक्यमध्येऽपदिश्यते।
नीचैरर्थस्वभावेन सोऽन्वादेशः स्मृतो बुधैः॥
ऋ.दी.१.६५.१,उपक्र.श्लो.११।

२. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ। पा. २.४.३२।
अस्य इति प्रथमादेश उदात्तं स्मर्यते पदम्।
अन्वादेशे चानुदात्तम् ... ...॥
वेंकट, ऋ.दी १.६५.१, उपक्र. श्लो. २।

३. ऋच्येकस्यामन्वादेश इति वक्तुं न युज्यते।
युञ्जन्त्यस्य काम्याया भिन्नायामपि दर्शनात्।
वेंकट, ऋ.दी. १.६५.१, उपक्र. श्लो.४।

४. अन्वादेशः पादमध्ये सर्वत्रेति न युज्यते।
यस्मादुदात्ता दृश्यन्ते पादमध्येऽपि तद्यथा॥ वही, उपक्र.श्लो.७।

५. पादादिष्वनुदात्तोऽस्य न कदाचन दृश्यते।
उदात्ताः पादमध्येऽपि दृश्यन्ते बहवस्तथा॥ वही, उपक्र.श्लो. ६।

सर्वानुदात्त अस्य पद न मिलने का कारण यह है कि वाक्य या पाद के प्रारम्भ में अन्वादेश कभी नहीं होता।[1]

(२) एतद् सर्वनाम शब्द का जब अश् आदेश होता है और अश् के आगे त्र तथा तस् प्रत्यय हों तो अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे— अत्र, अतः। अन्वादेश से अन्यत्र अत्र तथा अतः पद आद्युदात्त होते हैं।

(३) एतद् सर्वनाम शब्द का द्वितीया विभक्ति से लेकर आगे एन आदेश होने पर उसके जितने रूप बनते हैं वे सभी अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होते हैं,[3] जैसे—एमेनं सृजता सुते (ऋ. वे.१. ९.२); त्वं पुरं इन्द्र चिकिदेना (ऋ. वे. ८.९८.१४); हनामैनाँ (ऋ. वे. १.१६१.५); उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् (ऋ.वे.१.१६४.२६); उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने (ऋ.वे.१.१४६.२); अथैनोः (ऋ.वे.१.१३६.१); इत्यादि। अन्वादेश न होने पर एन के रूप सर्वानुदात्त न होकर उदात्तयुक्त होते हैं, जैसे—एनाङ्गूषेण (ऋ. वे. १. १०५.१९); एनामृतस्य पिप्युषीः (ऋ.वे. ८.६.१९), इत्यादि।

(४) एनत् सर्वनाम पद नपुंसक में प्रयुक्त होने पर सर्वानुदात्त होता है।[4]

(५) यथा पद इव के अर्थ में प्रयुक्त हो और पाद के अन्त में आवे, तो सर्वानुदात्त होता है,[5] जैसे—यच्चिद्धि ते विशो यथा (ऋ.वे.१.२५.१)। किन्तु पाद के अन्त में न होने पर तथा इव के अर्थ में प्रयुक्त न होने पर यथा पद सर्वानुदात्त नहीं होता, जैसे—देवयन्तो यथा मतिम् (ऋ.वे.१.६.६)।

---

१. वाक्यादावपदिष्टोऽपि लौकिकैरपदिश्यते।
उच्चैर्धर्मी ततस्तत्र नान्वादेशस्य सम्भवः॥ वही, उपक्र.श्लो. १०।
२. एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ। पा.२.४.३३।
३. द्वितीयाटौस्स्वेनः। पा. २.४.३४।
४. अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः। पा.वा.२.४.३४।
५. यथेति पादान्ते। फि.सू.८५।

(६) कम् निपात नु, सु तथा हि के बाद आने पर ही अनुदात्त होता है, जैसे— विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ.वे. १.१५४.१), इत्यादि। किन्तु नु, सु तथा हि उसके पूर्व में न हों तो अनुदात्त नहीं होता, जैसे—अजीजन ओषधीर्भोजनाय कम् (ऋ.वे. ५.८३.१०)।

(७) निषेधात्मक निपात न के बाद यदि हि या नु निपात आता है तो दोनों के साथ मिलकर एक निपात बन जाता है और न अनुदात्त होता है जैसे— नहि, ननु।

(८) सम्बोधन पद[1] पाद के प्रारम्भ में न हों, तो सर्वानुदात्त होते हैं,[2] जैसे— ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो (ऋ.वे. १.३५.११)। पाद के प्रारम्भ में होने पर ये आद्युदात्त होते हैं,[3] जैसे—बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय (ऋ.वे. २.२३.८)।

(९) मुख्य वाक्य की क्रिया पाद के प्रारम्भ में न हो, तो सर्वानुदात्त होती है,[4] जैसे— विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ.वे. १.१५४.१)। पाद के प्रारम्भ में तथा अवस्था-विशेष में पाद के मध्य में भी क्रिया उदात्तयुक्त होती है,[5] जैसे—ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये (ऋ.वे. १.३५.१)।

(१०) उदात्तयुक्त क्रियापद के साथ जब किसी उपसर्गपद का समास होता है तो उपसर्गपद सर्वानुदात्त होता है,[6] जैसे— यो गृहाँ अभिशासति (ऋ.वे. ६.५४.२)। क्रियापद के सर्वानुदात्त होने पर उपसर्ग-पद के साथ समास नहीं होता। ऐसी स्थिति में उपसर्ग उदात्तयुक्त होता है, जैसे— विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ.वे. १.१५४.१)।

---

१. द्रष्टव्य आगे, 'वाक्य-स्वर-प्रकरण' के अन्तर्गत 'सम्बोधन पदों का वाक्य में स्वर-परिवर्तन।
२. आमन्त्रितस्य च। पा. ८.१.१९।
३. आमन्त्रितस्य च। पा. ६.१.१९८।
४. तिङ्ङतिङः। पा. ८.१.२८।
५. द्रष्टव्य आगे, 'वाक्य-स्वर-प्रकरण' के अन्तर्गत 'आख्यात पदों का वाक्य में स्वर-परिवर्तन'।
६. गतिर्गतौ। तिङि चोदात्तवति। पा. ८.१.७०-७१।

तृतीय अध्याय

प्रातिपदिक एवं प्रत्यय-स्वर-प्रकरण

प्रकृति और प्रत्यय के योग से प्रातिपदिकों[1] का निर्माण होता है। पद-स्वर के सामान्य नियम के अनुसार प्रकृत्यंश में भी उदात्त स्वर होता है और प्रत्ययांश में भी, क्योंकि दोनों प्रकृतिरूप से पद ही होते हैं। किन्तु दोनों के संयोग में कभी-कभी प्रकृत्यंश के उदात्त का लोप हो जाता है और कभी प्रत्ययांश के उदात्त का लोप हो जाता है। सामान्य रूप से पूर्व-पूर्व स्वर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर स्वर बलवान् होने के कारण पूर्व-पूर्व उदात्त स्वर का लोप हो जाता है और उत्तर स्वर रह जाता है।[2] इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय के संयोग में प्रकृत्यंश के स्वर का प्रायः लोप होकर प्रत्ययांश का उदात्त स्वर रह जाता है।

सामान्य रूप से प्रत्यय आद्युदात्त होते हैं।[3] जिस प्रकृत्यंश के साथ वे जोड़े जाते हैं, उसमें प्रत्यय का आदिम वर्ण उदात्त होता है, जैसे— कर्तव्य (√कृ + तव्य), इत्यादि। पाणिनि ने प्रत्ययों के आगे कुछ ऐसे अनुबन्ध जोड़ रखे हैं, जो शब्दों की स्वर-विषयक विशेषता को प्रकट करते हैं। प्रत्ययों में लगे अनुबन्धों में जो मुख्य हैं, उनकी स्वर-विषयक विशेषताओं को हम नीचे दिखाते हैं —

१. ञित्-नित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में ञ् तथा न् अनुबन्ध इत्संज्ञकों[4] होते हैं,

---

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। पा. १.२.४५।

२. सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्य इति वाच्यम्।
पा.वा. ६.१.१५८।

३. आद्युदात्तश्च। पा. ३.१.३।

४. प्रत्ययों के साथ लगे व्यञ्जनों को अनुबन्ध या उपबन्ध कहा जाता है। इनका जब लोप हो जाता है तो उनकी इत्संज्ञा होती है।

उन प्रत्ययों के योग से बने शब्द आद्युदात्त होते हैं,[१] जैसे—होतृ (√हु + तृन्), दातृ(√दा + तृन्), जवीयस्(√जव + ईयसुन्), गार्ग्य (गर्ग + यञ्), इत्यादि।

अपवाद—ञ् तथा न् इत्संज्ञक प्रत्ययों के योग से बने कतिपय शब्द आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त ही होते हैं—

(१) √कृष् धातु तथा आकारयुक्त धातु के साथ जब घञ् प्रत्यय लगकर शब्द बनता है तो वह अन्तोदात्त होता है,[२] जैसे—कर्ष, पाक, इत्यादि।

(२) उञ्छादि गण में पठित युग शब्द घञ् प्रत्ययान्त होने पर भी गुण के अभाव में अन्तोदात्त होता है,[३] जैसे— प्रमिनती मनुष्या युगानि (ऋ.वे. १.९२.११)। घञन्त भक्ष शब्द भी अन्तोदात्त होता है।

(३) ऊति, यूति, जूति, साति, हेति तथा कीर्ति शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त होने पर भी इनके प्रत्ययांश को उदात्त होता है।[४]

४. मन्त्र में वृष, इष, पच, मन, विद, भू, वी, तथा रा धातुओं में क्तिन् प्रत्यय लगता है और प्रत्यय नित् होने पर भी इन धातुओं से बने क्तिन् प्रत्ययान्त वृष्टि, इष्टि, पक्ति, मति, वित्ति, भूति, वीति, तथा राति शब्द अन्तोदात्त होते हैं।[५]

(५) नित् संज्ञक 'इष्ठन्' प्रत्ययान्त 'ज्येष्ठ' तथा 'कनिष्ठ' शब्द आद्युदात्त भी होते हैं और अन्तोदात्त भी। जब ये आयु में क्रमशः बड़े और छोटे के वाचक होते हैं तब अन्तोदात्त होते हैं,[६] जैसे— ज्येष्ठ, कनिष्ठ; किन्तु अन्यत्र सामान्य नियम के अनुसार आद्युदात्त ही होते हैं, जैसे—ज्येष्ठ, कनिष्ठ।

---

१. ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा.६.१.१९७।
२. कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः। पा.६.१.१५९।
३. उञ्छादीनां च। पा. ६.१.१६०।
४. ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च। पा. ३.३.९७।
५. मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः। पा. ३.३.९६।
६. ज्येष्ठकनिष्ठयोर्वयसि। फि.सू.२२।

(६) घञ् प्रत्ययान्त त्याग, राग, हास शब्द विकल्प से आद्युदात्त होते हैं।[1]

(७) वेणु शब्द नित् प्रत्ययान्त होने के कारण निश्चित रूप से आद्युदात्त होना चाहिये, किन्तु इसका आद्युदात्तत्व वैकल्पिक होता है।[2]

२. चित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा च् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों के योग से बना शब्द अन्तोदात्त होता है,[3] जैसे— ईश्वर (√ईश् +वरच्), कुर्वाण (√कृ+शानच्), दातृ (√दा+तृच्), होतृ (√हु+ तृच्), इत्यादि। तद्धित प्रत्यय भी च् इत्संज्ञक होने पर उनसे बने शब्द अन्तोदात्त होते हैं,[4] जैसे— कौञ्जायन (कुञ्ज+चफञ्)।

अपवाद—(१) किन्तु शानच् प्रत्ययान्त इन्धान शब्द विकल्प से आद्युदात्त भी होता है[5]—इन्धान-इन्धान।

(२) आत्मनेपद की धातुओं के साथ जब शानच् प्रत्यय लगता है तो उससे बने शब्द अन्तोदात्त नहीं होते, जैसे—शयान, वर्तमान, वर्धमान, इत्यादि।[6]

३. कित्-प्रत्यय-स्वर—

(३) जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा क् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों से बने तद्धित प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होते हैं,[7] जैसे—काद्रवेय (कद्रू+ढक्), शौल्वायन (शूल्व+फक्), इत्यादि।

---

१. त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम्। पा. ६.१.२१६; आद्युदात्तो वा। आद्यास्त्रयो घञन्ताः। पा. सि. कौ. ६.१.२१६(३७०४)।

२. विभाषा वेण्विन्धानयोः। पा. ६.१.२१५।

३. चितः। पा. ६.१.१६३।

४. तद्धितस्य। पा. ६.१.१६४।

५. विभाषा वेण्विन्धानयोः। पा. ६.१.२१५।

६. ०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तम्०। पा. ६.१.१८६।

७. कितः। पा. ६.१.१६५।

४. तित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा त् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों के योग से बने शब्द स्वरितान्त होते हैं,[1] जैसे— क्वं (किम्+अत्),[2] कर्तव्यं (√कृ+तव्यत्), इत्यादि।

अपवाद— किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं में त् इत्संज्ञक प्रत्यय वाले शब्द स्वरितान्त नहीं होते —

(१) नौ शब्द को छोड़कर यत् प्रत्ययान्त द्व्यच् (दो अक्षरों वाले) शब्द स्वरितान्त न होकर आद्युदात्त होते हैं,[3] जैसे—देयं (√दा+यत्)। किन्तु नौ शब्द के साथ यत् प्रत्यय लगने पर द्व्यच् होने पर भी नाव्यं शब्द स्वरितान्त ही होता है। यदि यत् प्रत्ययान्त शब्द त्र्यच् होगा तो वह सामान्य नियम के अनुसार स्वरितान्त ही होगा, जैसे—अवद्यं (अवद्+यत्), इत्यादि।

(२) ईड, वन्द, वृ, शंस्, तथा दुह्, धातुओं से बने ण्यत् प्रत्ययान्त शब्द स्वरितान्त नहीं होते,[4] जैसे—ईड्यं, वन्द्य, वार्यं, शंस्यं, दोह्यं इत्यादि।

५. लित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा ल् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों से बने शब्द प्रत्यय से पूर्व उदात्त वाले होते हैं,[5] जैसे—यत्र (यत्+त्रल्), तत्र (तत्+त्रल्), यतः (यत्+तसिल्), इत्यादि। किन्तु अभ्यस्त धातुओं से बने णमुल् प्रत्ययान्त शब्द विकल्प से आद्युदात्त भी होते हैं,[6] जैसे—लोलूयंलोलूयम्-लोलूयंलोलूयम्।

---

१. तित्स्वरितम्। पा.६.१.१८५।
२. किमोऽत्। पा.५.३.१२।
३. यतोऽनावः। पा. ६.१.२१३।
४. ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः। पा. ६.१.२१४।
५. लिति। पा.६.१.१९३।
६. आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्। पा. ६.१.१९४।

६. रित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा हुआ र् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों के योग से बने शब्द का उपधा वाला वर्ण उदात्त होता है,[1] जैसे—दर्शनीय (√दृश्+अनीयर्), आहवनीय (आ+√हु+अनीयर्), इत्यादि।

७. पित्-प्रत्यय-स्वर—

जिन प्रत्ययों के अन्त में लगा प् अनुबन्ध इत्संज्ञक होता है, उन प्रत्ययों के योग से बने शब्द का पूरा प्रत्ययांश सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे—श्रेष्ठतम (√श्रि+इष्ठन्+तमप्), रत्नधातम (रत्नधा+तमप्), इत्यादि।

अपवाद—(१) किन्तु ह्रस्व में अन्त होने वाले अन्तोदात्त शब्द तथा नुट् से परे मतुप् उदात्त होता है,[3] जैसे—अब्धिमान्, उदनिमान्, अक्षण्वन्तः, इत्यादि।

(२) पुरुतम, उत्तम तथा शश्वत्तम में भी इस सामान्य नियम का अपवाद मिलता है।[4]

(३) अवत्यन्त[5] तथा ईवत्यन्त शब्द[6] भी अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—मद्रवती, अहीवती, इत्यादि।

८. निष्ठाप्रत्यय-स्वर—

निष्ठा प्रत्ययान्त (क्त प्रत्ययान्त) दो अच् वाले शब्द संज्ञा होने पर आद्युदात्त होते हैं, यदि निष्ठा प्रत्यय से पूर्व आ न हो,[7] जैसे—दत्त (√दा+क्त), गुप्त (√गुप्+क्त), इत्यादि। दो अच् से अधिक

---

१. उपोत्तमं रिति। पा. ६.१.२१७।
२. अनुदात्तौ सुप्पितौ। पा. ३.१.४।
३. ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्। पा. ६.१.१७६।
४. उत्तमशश्वत्तमावपि। सि. कौ. ३६८१।
५. अन्तोऽवत्याः। पा. ६.१.२२०।
६. ईवत्याः। पा. ६.१.२२१।
७. निष्ठा च द्व्यजनात्। पा. ६.१.२०५।

होने पर आद्युदात्त न होकर प्रत्ययांश को उदात्त होता है, जैसे—रक्षित। इसी प्रकार निष्ठा-प्रत्यय से पूर्व आ होने पर प्रत्ययांश को ही उदात्त होता है, जैसे—श्रात (√श्रा+क्त)।

अपवाद— किन्तु उपर्युक्त नियम के भी अपवाद मिलते हैं—

(१) शुष्क और धृष्ट शब्द क्त प्रत्ययान्त हैं, द्व्यच् हैं और संज्ञा में प्रयुक्त नहीं है फिर भी आद्युदात्त होते हैं।[1]

(२) आशित शब्द त्र्यच् है फिर भी आद्युदात्त है।[2]

(३) रिक्त शब्द संज्ञा में है, द्व्यच् है इसलिये इसको नित्य आद्युदात्त होना चाहिये, किन्तु इसका आद्युदात्तत्व वैकल्पिक है।[3] यह आद्युदात्त भी होता है और अन्तोदात्त भी—रिक्त-रिक्त।

(४) जुष्ट और अर्पित शब्द विकल्प से आद्युदात्त होते हैं,[4] जैसे—जुष्ट-जुष्ट, अर्पित-अर्पित।

(५) घृत, सित आदि शब्द क्त-प्रत्ययान्त द्व्यच् और संज्ञा में प्रयुक्त होने पर भी अन्तोदात्त होते हैं।[5] ऐसे शब्दों को घृतादि गण की संज्ञा दी गई है।

९. य (या त्य)[6] और त्व (त्वन्)[7] प्रत्यय के योग से बने कृदन्त शब्द में धात्वंश को उदात्त स्वर होता है, जैसे— चक्ष्य (देखने योग्य), श्रुत्य (सुनने योग्य) चर्कृत्य (प्रशंसा करने के योग्य); वक्त्व (कथन के योग्य)।

१०. आय्य प्रत्यय के योग से बने कृदन्त शब्द में प्रत्यय के उपधा वाले वर्ण को उदात्त होता है, जैसे— पनाय्य (√पन्+आय्य)।

---

१. शुष्कधृष्टौ। पा. ६.१.२०६।
२. आशितः कर्ता। पा. ६.१.२०७।
३. रिक्ते विभाषा। पा. ६.१.२०८
४. जुष्टार्पिते च छन्दसि। पा. ६.१.२०९।
५. घृतादीनां च। फि.सू. २१।
६. तु. यतोऽनावः। पा. ६.१.२१३।
७. तु. ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा. ६.१.१९७।

११. त्वा, त्वी, तथा त्वाय पूर्वकालिक प्रत्यय कहलाते हैं और इन प्रत्ययों के योग से बने पूर्वकालिक पद में इन प्रत्ययों के प्रथम वर्ण पर ही उदात्त होता है, जैसे—गत्वा, गत्वी, गत्वाय। किन्तु जब इनका किसी उपसर्ग के साथ समास होता है तब उदात्त स्वर धात्वंश पर आ जाता है, जैसे—उपश्रुत्य, संगृभ्या, इत्यादि।

इन इत्संज्ञक अनुबन्ध वाले प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी भी अजन्त प्रत्यय के योग से बने शब्दों में, जब तक किसी विशेष नियम का उल्लेख न हो, प्रायः प्रत्यय के आदि अच् पर उदात्त स्वर होता है, जैसे—अग्नि (√अग्+नि), इत्यादि।

तुमुन्नर्थीय प्रत्यय—कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिनके योग से निर्मित शब्द किसी विशेष विभक्ति-प्रत्यय के साथ रूढ़ हो गये हैं। इनके प्रातिपदिक रूप का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु विभिन्न विभक्तियों में इनके रूप नहीं मिलते। इन प्रत्ययों को तुमुन्नर्थीय प्रत्यय (Infinitive) कहा जाता है।[1] इनकी स्वर-विषयक निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) तवै प्रत्ययान्त पद आदि और अन्तोदात्त होते हैं,[2] जैसे—यातवै, हन्तवै, एतवै, इत्यादि।

(२) चतुर्थी-बोधक तुमुन्नर्थीय प्रत्यय ए जब व्यञ्जनान्त धातुओं के साथ जोड़ा जाता है तब उसके योग से बने पद का प्रत्ययांश उदात्त होता है, जैसे— मुहे, मिहे, भुजे, दृशे, इत्यादि।

किन्तु व्यञ्जनान्त धातुओं के साथ संयुक्त हुआ चतुर्थी-बोधक प्रत्यय ए उदात्त नहीं होता, यदि प्रत्यय के योग से बना पद किसी उपसर्ग के साथ समस्तपद बन जाय। ऐसी अवस्था में धात्वंश को ही उदात्त होता है, जैसे— संभ्रमे, समिधे, प्रणुदे, संपृच्छे, इत्यादि।

---

१. तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः। पा. ३.४.९।

२. अन्तश्च तवै युगपत्। पा. ६.१.२००।

(३) चतुर्थी-बोधक तुमुन्नर्थीय ध्यै प्रत्यय जिन धातुओं के आगे लगता है, उन धातुओं के बाद और ध्यै से पूर्व एक अ का आगम होता है। ध्यै प्रत्ययान्त पद का यही अ उदात्त होता है, जैसे—चरध्यै, इयध्यै, गमध्यै, इत्यादि।

(४) चतुर्थी-बोधक प्रत्यय ए से पूर्व तथा धातु के बाद कुछ विकरण जोड़कर तुमुन्नर्थीय प्रत्यययुक्त पद बनाये जाते हैं। ऐसे विकरणों में से इ, ति, अस् तथा वन् होने पर धात्वंश तथा चतुर्थी-बोधक प्रत्यय को उदात्त न होकर इन्हीं विकरणों पर उदात्त स्वर होता है, जैसे—वृशयै, पीतयै, चरसे, दावने, इत्यादि।

(५) चतुर्थी-बोधक तुमुन्नर्थीय प्रत्यय ए से पूर्व तथा धातु के बाद मन् विकरण हो तो धात्वंश को ही उदात्त होता है, जैसे—दामने, इत्यादि।

(६) धातु और चतुर्थी-बोधक प्रत्यय के बीच तु विकरण होने पर तुमुन्नर्थीय प्रत्यय में धात्वंश को ही उदात्त स्वर होता है, जैसे — भर्तवे, इत्यादि।

(७) सीधे धातु से बनने वाले द्वितीया, पञ्चमी तथा षष्ठी-बोधक तुमुन्नर्थीय प्रत्ययों में धात्वंश ही उदात्त होता है, जैसे— शुभम् दातुम् अवपदः, गन्तोः, इत्यादि।



चतुर्थ अध्याय

विभक्ति-स्वर-प्रकरण

पदों में स्वर-परिवर्तन के प्रकार

प्रातिपदिक शब्दों में सु, औट्, जस्, आदि सुबन्त संज्ञक विभक्ति-बोधक प्रत्ययों को लगाकर पदों के अनेक रूप बनाये जाते हैं। सामान्य रूप से सभी सुबन्त प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा. ३.१.४), इस सूत्र के अनुसार सर्वानुदात्त होते हैं, और जिन प्रातिपदिकों के साथ जोड़े जाते हैं, उनका प्रातिपदिकांश ही उदात्त होता है। प्रातिपदिकों में उदात्त स्वर जिस वर्ण पर होता है, सभी विभक्ति-युक्त पदों में वह प्राय: उसी वर्ण पर रहता है, किन्तु कभी-कभी प्रातिपदिक का उदात्त स्वर परिवर्तित भी हो जाता है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—(१) प्रातिपदिकांश में ही उदात्त के स्थान का परिवर्तन और (२) प्रातिपदिक से विभक्ति पर उदात्त का परिवर्तन।

प्रातिपदिकांश में उदात्त के स्थान का परिवर्तन केवल अन्तोदात्त या मध्योदात्त शब्दों के सम्बोधन में ही होता है। चाहे प्रातिपदिक व्यञ्जनान्त हो, या अजन्त हो, सबका सम्बोधन में उदात्त स्वर प्रथम वर्ण पर आ जाता है, जैसे—देव, अग्ने, अश्विना, मित्रावरुणा, इत्यादि। जो प्रातिपदिक आद्युदात्त होते हैं, सम्बोधन में उनके उदात्त स्वर का परिवर्तन नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे—इन्द्र। शेष विभक्ति रूपों में उदात्त कभी प्रातिपदिक पर रहता है, कभी विभक्ति के प्रत्यय पर चला जाता है।

१. अजन्त प्रातिपदिकों का विभक्ति-स्वर—

(१) अकारान्त तथा आकारान्त प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर सभी विभक्तियों (सम्बोधन को छोड़कर) में अपने मूल स्थान पर रहता है,

उसके स्थान में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे —देव- ए. व.—देवः, देवम्, देवेन, देवाय, देवात्, देवस्य, देवे; द्वि. व.—देवौ-देवा, देवाभ्याम्, देवयोः; ब. व.—देवाः-देवासः, देवैः-देवेभिः, देवेभ्यः, देवानाम्, देवेषु।

जा- ए.व.—जा, जाम्, जा, जे; द्वि.व.—जौ, जाभ्याम्; ब.व.—जाः, जाभिः, जाभ्यः, जासु।

(२) इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के जिन विभक्तियों में अन्तोदात्त इ, उ का क्रमशः य्, व् बनता है, उन अजादि विभक्तियों में[1] तथा षष्ठी बहुवचन[2] में उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है, जैसे—अग्न्योः, अर्यः, धेन्वा; अग्नीनाम्, वीनाम्, पशूनाम्, इत्यादि। जिनमें य् तथा व् नहीं होता उनमें उदात्त स्वर अविचलित रहता है, जैसे—अग्नि- ए.व.—अग्निः, अग्निम्, अग्निना, अग्नये, अग्नेः, अग्नौ, ब.व.—अग्निभिः, अग्निभ्यः, अग्निषु, इत्यादि। भानु- ए.व.—भानुः भानुम्, भानुना, भानवे; ब.व.—भानुभिः भानुभ्यः, इत्यादि।

(क) आद्युदात्त नपुंसक इकारान्त अक्षि, अस्थि, दधि तथा सक्थि शब्दों में अजादि विभक्ति परे होने पर जहां अन्तिम इ का लोप होता है और न् का आगम होता है, उदात्त विभक्ति पर चला जाता है, जैसे—अक्ष्णः अक्ष्णोः, अस्थ्नः, सक्थ्ना, दध्ना, दध्नः, इत्यादि। अक्षि, अस्थि तथा सक्थि शब्द के अकारान्त रूप भी मिलते हैं, जो अन्तोदात्त होते हैं और उनका उदात्त (सम्बोधन को छोड़कर) सर्वत्र अविचलित रहता है, जैसे—अक्षाणि, अक्षभिः, अस्थानि, अस्थभिः, सक्थानि, सक्थभिः, इत्यादि।

(ख) एकाच् प्रातिपदिक वि का उदात्त स्वर असर्वनामस्थान की विभक्तियों में विभक्ति पर चला जाना चाहिए, किन्तु विभक्ति पर

---

१. उदात्तयणो हल्पूर्वात्। पा.६ १.१७४।
२. नामन्यतरस्याम्। पा. ६.१.१७७।

न जाकर प्रातिपदिक पर ही रहता है, जैसे—विभिः।

(ग) उकारान्त एकाच् द्यु शब्द का अजादि विभक्ति परे होने पर दिव् आदेश हो जाता है और तृतीया से लेकर आगे सर्वत्र उदात्त स्वर अजादि विभक्ति पर चला जाता है,[1] जैसे—दिवा, दिवे, दिवः, दिवि। किन्तु हलादि विभक्ति परे होने पर दिव् आदेश नहीं होता। जहां पर द्यु का दिव् आदेश नहीं होता वहां उदात्त स्वर विभक्ति पर नहीं जाता,[2] जैसे—द्युभिः, द्युवि, इत्यादि।

(३) अन्तोदात्त ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिकों में ई तथा ऊ का जहां क्रमशः य् तथा व् बनता है उन विभक्तियों में उदात्त स्वर विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[3] जैसे—देवी- ए.व.—देव्या, देव्यै, देव्याः, देव्याम्, देव्योः, इत्यादि। किन्तु वृकी तथा तनू सदृश अन्तोदात्त प्रातिपदिकों से परे अजादि विभक्ति आने पर उदात्त का लोप होकर विभक्ति के अच् पर क्षैप्र स्वरित आ जाता है,[4] जैसे—वृकी- ए.व.—वृक्यम् (वृकी+अम्), वृक्या (वृकी+आ), वृक्यै (वृकी+ए), वृक्यः (वृकी+अस्); द्वि.व.—वृक्या (वृकी+आट्), वृक्योः (वृकी+ओस्)। तनू- ए.व. तन्वम् (तनू+अम्), तन्वा (तनू+आ), तन्वे (तनू+ए) तन्वः (तनू+अस्), तन्वाम् (तनू+आम्); द्वि.व.— तन्वा (तनू+आट्), तन्वोः (तनू+ओस्), इत्यादि। शेष रूपों में उदात्त अविचलित रहता है, जैसे—देवीभ्याम्, देवीभिः, देवीभ्यः, देवीनाम् देवीषु; तनूभ्यः तनूनाम्, तनूषु, इत्यादि।

---

१. दिवो झल्। पा.६.१.१८३; ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः। पा. ६.१.१७१।

२. सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः। पा. ६.१.१६८।

३. उदात्तयणो हल्पूर्वात्। पा. ६.१.१७४।

४. नोङ्धात्वोः। पा. ६.१.१७५।

अनेक स्त्रीलिंग ईकारान्त प्रातिपदिकों के षष्ठी बहुवचन में विभक्ति को उदात्त स्वर होता है, जैसे—बह्वीनाम् ।

(४) इयङ्- तथा उवङ्-स्थानीय ईकारान्त तथा ऊकारान्त एकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर तृतीयादि विभक्तियों में विभक्ति पर चला जाता है,[1] जैसे—धी- ए.व.—धिया, धिये, धियः; ब.व.—धीभिः, धीनाम्-धियाम् , धीषु; इत्यादि । भू- ए.व.—भुवः, भुवि; द्वि.व.—भूभ्याम्, भुवोः; ब.व.—भुवाम्, इत्यादि । किन्तु अनेकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर अविचलित रहता है ।

(५) अन्तोदात्त ऋकारान्त प्रातिपदिकों के ऋ का जिन विभक्तियों में र् बनता है उन विभक्तियों में उदात्त स्वर प्रातिपदिक से हटकर, विभक्तियों पर चला जाता है,[2] जैसे—पितृ- ए.व.—पित्रा (पितृ+आ), पित्रे (पितृ+ए), पित्रोः (पितृ+ओस्); मातृ- ए.व.–मात्रा (मातृ+आ), मात्रे (मातृ+ए) मात्रोः (मातृ+ओस्) । षष्ठी बहुवचन में भी उदात्त विभक्ति पर चला जाता है, जैसे—पितॄणाम्, मातॄणाम्, नराम् , इत्यादि ।

पञ्चमी तथा षष्ठी एकवचन में ऋ का उस् आदेश होता है और यहीं उस् के अच् पर उदात्त स्वर होता है, जैसे—पितुः, मातुः, दातुः, इत्यादि । शेष रूपों में उदात्त अविचलित रहता है ।

ऋकारान्त एकाच् प्रातिपदिक नृ तथा स्तृ का उदात्त स्वर तृतीयादि विभक्तियों में अजादि या झलादि विभक्ति परे होने पर भी विभक्ति पर नहीं जाता,[3] प्रातिपदिक पर ही रहता है, जैसे—नरे (नृ+ए), नृभिः, नृभ्यः, नृषु ; स्तृभिः, इत्यादि ।

(६) ऐकारान्त प्रातिपदिकों में से ऋग्वेद में केवल एक रै मिलता है । असर्वनामस्थान की विभक्तियों में इसका उदात्त स्वर विभक्ति के

---

१. सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः । पा. ६.१.१६८ ।

२. उदात्तयणो हल्पूर्वात् । पा. ६.१.१७४ ।

३. नृ चान्यतरस्याम् । पा. ६.१.१८३ ।

अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—रै- ए.व.—राया (रै+आ), राये (रै+ए), रायः (रै+अस्) ; व.व.—रायाम्, इत्यादि। सर्वनामस्थानीय द्वितीया बहुवचन में भी उदात्त विभक्ति पर देखा जाता है, जैसे—रायः।

(७) ओकारान्त प्रातिपदिकों में से केवल गो और द्यो मिलते हैं, जो एकाच् हैं। एकाच् होने के कारण असर्वनामस्थान की विभक्तियों में इनका उदात्त स्वर विभक्ति के अच् पर चला जाना चाहिये,[2] किन्तु वह विभक्ति पर न जाकर सदा प्रातिपदिक पर ही बना रहता है,[3] जैसे— गो- ए.व.—गौः, गाम्, गवा, गवे, गोः, गवि; द्वि.व.—गावौ—गावा; व.व. गावः, गाः, गोभिः, गोभ्यः, गवाम्-गोनाम्, गोषु ; द्यो- ए.व.—द्यौः, द्याम्, द्योः, द्यवि ; द्वि.व.—द्यावा ; व.व. द्यावः।

(८) औकारान्त प्रातिपदिकों में से केवल नौ और ग्लौ मिलते हैं, जो एकाच् हैं। सर्वनामस्थान की विभक्तियों में इनका उदात्त स्वर प्रातिपदिक पर रहता है, जैसे—नौः, नावम् ; नावः, ग्लौः। किन्तु असर्वनाम-स्थान की विभक्तियों में वह विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[4] जैसे—नावा, नावः, नावि ; नौभि ; ग्लौभिः।

२. हलन्त प्रातिपदिकों का विभक्ति-स्वर—

(१) अनेकाच् सभी हलन्त प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर सभी विभक्तियों में (सम्बोधन को छोड़कर) अविचलित रहता है, जैसे— त्रिवृत्- ए.व.—त्रिवृत्, त्रिवृतम्, त्रिवृता, त्रिवृते, त्रिवृतः त्रिवृति; द्वि.व.— त्रिवृता—त्रिवृतौ, त्रिवृतोः; व.व.—त्रिवृतः, त्रिवृद्भिः, त्रिवृताम्। उशिक्—

---

१. ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः। पा. ६.१.१७१।

२. सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः। पा.६.१.१६८।

३. न गोश्वन्साववर्ण०। पा.६.१.१८२।

४. सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः। पा. ६.१.१६८।

ए.व.—उशिक्. उशिजम्, उशिजा, उशिजे, उशिजः ; द्वि.व. उशिजा, उशिजोः ; व.व.—उशिजः, उशिग्भिः, उशिग्भ्यः, उशिजाम्, इत्यादि ।

(२) सभी एकाच् हलन्त प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर तृतीयादि विभक्तियों में विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—वाच्- ए. व.—वाचा, वाचे, वाचः, वाचि, द्वि. व.—वाग्भ्याम् ; व.व.; वाग्भिः, वाग्भ्यः, वाचाम् । पद्- ए.व.—पदा, पदे, पदः, पदि ; द्वि. व.— पद्भ्याम्, पदोः ; व. व.—पद्भिः, पद्भ्यः, पदाम्, पत्सु, इत्यादि । ऐसे एकाच् प्रातिपदिकों के सर्वनामस्थानीय द्वितीया बहुवचन के कतिपय रूपों में विभक्ति पर उदात्त स्वर मिलता है, जैसे—वाचः, पदः, इत्यादि ।

अपवाद—श्वन्, राज्, अञ्च्, क्रुञ्च् और कृत् प्रातिपदिकों का तथा इनमें अन्त होने वाले प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर विभक्ति पर न जाकर प्रातिपदिक पर ही रहता है,[2] जैसे—श्वन्- शुना, शुने श्वभ्याम् ; परमशुना, परमश्वभ्याम् ; राज्- राजा, राड्भ्याम् राड्भिः; सम्राजा, सम्राजे, सम्राजोः; प्राञ्च्—प्राञ्चः, प्राञ्चम्, प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम् ; क्रुञ्च्- क्रुञ्चा, क्रुञ्चे, परमक्रुञ्चा ; कृत्- कृता, कृते, कृद्भ्याम्, परमकृता, इत्यादि । किन्तु जहां विभक्तियों में अञ्च् का ईच् या ऊच् में परिवर्तन हो जाता है, वहां प्रातिपदिक का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[3] जैसे—प्राचा, प्राग्भ्याम् ; प्रतीचा, प्रतीचः, इत्यादि ।

नोट—श्वन्, राज्, क्रुञ्च् तथा कृत् में अन्त होने वाले प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर विभक्ति पर इसलिए भी नहीं जाता कि ये अनेकाच् होते हैं। अनेकाच होने के कारण इनका उदात्त स्वर अविचलित रहता है ।

---

१. वही ।
२. न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः । पा. ६.१.१८२ ।
३. अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् । पा. ६.१.१७० ।

(३) शतृ प्रत्ययान्त अन्तोदात्त प्रातिपदिकों का उदात्त असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों के अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—अदत्-ए. व.—अदता, अदते, अदतः, अदति ; द्वि.व. अदतोः; ब.व.—अदतः। इसी प्रकार बृहत् तथा महत् प्रातिपदिक से परे असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों में विभक्ति के अच् पर उदात्त होता है, जैसे—बृहत्– ए. व.—बृहते, बृहतः ; द्वि. व. —बृहतोः ; ब. व.— बृहतः ; महत्– ए.व. —महता, महते, महतः; द्वि. व.—महतोः; ब.व.—महतः।

(४) शतृ प्रत्ययान्त अन्तोदात्त नदीसंज्ञक स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों का उदात्त स्वर असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों पर चला जाता है, यदि उसमें न् न हो,[3] जैसे — तुदती, नुदती, बृहती, महती, इत्यादि।

(५) लगभग सभी इनन्त प्रातिपदिकों के अन्तिम अच् पर उदात्त होता है और वह किसी भी विभक्तिरूप में (सम्बोधन को छोड़कर) अपने स्थान से विचलित नहीं होता, जैसे—अश्विन्-, अश्विनम्, अश्विना, अश्विनोः, अश्विभ्याम्, इत्यादि। किन्तु पथिन् तथा मथिन् का उदात्त सर्वनामस्थान की विभक्तियों में प्रातिपदिक के प्रथम वर्ण पर होता है,[4] जैसे—पन्थाः, पन्थासः, पन्थाम् ; मथीः, मन्थाम्, मन्थिनम्, इत्यादि। असर्वनामस्थान की अजादि विभक्ति परे होने पर विभक्ति के अच् पर उदात्त होता है, जैसे—पथा, पथः, पथि, पथाम् ; मथ्ना, मथ्नः, इत्यादि। किन्तु हलादि विभक्ति परे होने पर उदात्त अपरिवर्तित रहता है, जैसे—पथिभिः, पथिषु इत्यादि।

---

१. शतुरनुमो नद्यजादी। पा. ६.१.१७३।

२. वृहन्महतोरुपसंख्यानम्। पा. वा. ६.१.१७३।

३. शतुरनुमो नद्यजादी। पा.६.१.१७३।

४. पथिमथोः सर्वनामस्थाने। पा. ६.१.१९९।

(६) क्वसु (वस्) प्रत्ययान्त प्रातिपदिक अन्तोदात्त होते हैं, अर्थात् उनमें उदात्त स्वर व पर होता है, जैसे—जगन्वस्- जगन्वान्, जगन्वांसा, जगन्वांसः, इत्यादि। असर्वनामस्थान की विभक्तियों में अजादि प्रत्यय परे होने पर वस् का सम्प्रसारण उष् बन जाता है और इन विभक्तियों में उदात्त इसी उष् के ऊपर होता है, विभक्ति के अच् पर नहीं, जैसे—चक्रुवस्- चक्रुषा, चक्रुषे, चक्रुषः, चक्रुषाम्, इत्यादि।

(७) अन् या मन् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त प्रातिपदिकों के उपधा वाले उदात्तवान् अ का असर्वनामस्थान की विभक्तियों में अजादि विभक्तियों से पूर्व जब लोप हो जाता है (यदि अन् से पूर्व कोई व्यञ्जन हो तो अजादि विभक्ति परे होने पर भी अ का लोप नहीं होता) तब उदात्त स्वर विभक्ति के अच् पर चला जाता है, जैसे— महिमन्- महिम्ना, महिम्ने; अर्यमन्- अर्यम्णा, अर्यम्णे; पूषन्- पूष्णा, पूष्णे; ग्रावन्- ग्राव्णा इत्यादि। कभी-कभी अ के साथ-साथ म तथा न् का भी लोप हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में भी उदात्त स्वर विभक्ति पर चला जाता है, जैसे—महिमन्- महिना; वरिमन्- वरिणा; द्राघ्मन्- द्राघ्मा, इत्यादि।

(८) तृच् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक प्रायः अन्तोदात्त होते हैं। ङीप् प्रत्यय लगाकर जब इनका स्त्रीलिंग रूप बनाया जाता है तब इनमें ऋ का र् हो जाता है और उदात्त स्वर विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—कर्त्री, प्रसवित्री, नेत्री, इत्यादि।

३. संख्यावाचक प्रातिपदिकों का विभक्ति स्वर—

(१) संख्यावाचक प्रातिपदिक एक आद्युदात्त होने के कारण इसका उदात्त स्वर सभी विभक्तियों में अविचलित रहता है,[2] जैसे—एकः,

---

१. उदात्तयणो हल्पूर्वात्। पा. ६.१.१७४।

२. द्रष्टव्य, पीछे १. (१), पृ. ३९।

एकम्, एकेन, एकस्मै, एकस्मात्, एकस्य, एकस्मिन्। द्वि शब्द भी अकारान्त (द्व) हो जाने के कारण सभी विभक्तियों में इसका उदात्त स्वर अविचलित रहता है, जैसे—द्वा, द्वाभ्याम्, द्वयोः।

(२)क. त्रि (पु. तथा नपुं. में) तथा षट् का उदात्त स्वर तृतीयादि विभक्तियों में हलादि विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—त्रिभिः त्रिभ्यः, त्रीणाम् - त्रयाणाम्, त्रिषु; षड्भिः, षड्भ्यः, षट्सु, षण्णाम्।

(ख) त्रि शब्द का स्त्रीलिंग में तिसृ आदेश होता है[2] और जस् (प्रथमा व.व. की विभक्ति) तथा शस् (द्वि. व.व. की विभक्ति) परे होने पर ऋ का र् होकर 'तिस्रः रूप बनता है[3] और यहां उदात्त स्वर विभक्ति पर चला जाता है।[4] षष्ठी में हलादि विभक्ति परे होने पर उदात्त स्वर विभक्ति पर होता है,[5] जैसे—तिसृणाम्। शेष विभक्ति-रूपों में हलादि (भ् स् से प्रारम्भ होने वाले) विभक्ति-प्रत्यय के उपधा वाले अच् पर उदात्त होता है,[6] जैसे—तिसृभिः, तिसृभ्यः तथा तिसृषु।

(३)क. चतुर् शब्द उरन्[7] प्रत्ययान्त होने के कारण नित् होने से

---

१. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः। पा.६.१.१७९; द्रष्टव्य, सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः पा. ६.१.१६८।

२. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ। पा.७.२.९९।

३. अचि र ऋतः। पा. ७.२.१००।

४. तिसृभ्यो जसः। पा.६.१.१६६; उदात्तयणो हल्पूर्वात्। ६.१.१७४।

५. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादि। पा. ६.१.१७९।

६. झल्युपोत्तमम्। पा.६.१.१८०; सम्भवतः अनेकाच् होने के कारण उदात्त स्वर विभक्ति पर नहीं गया।

७. चतेरुरन्। उ. सू. ७३६।

आद्युदात्त है,[1] किन्तु पु. तथा नपु. में जस् (प्र. ब.व.) प्रत्यय परे होने पर चतुर् का चत्वार् आदेश होता है और यह अन्तोदात्त होता है, जैसे—चत्वारः, चत्वारि। जस् विभक्ति का अच् उदात्त नहीं होता है। इसी प्रकार पु. में शस् (द्वि. ब.व) प्रत्यय परे होने पर चतुर् शब्द अन्तोदात्त बन जाता है,[2] जैसे— चतुरः। षष्ठी में हलादि विभक्ति परे होने के कारण विभक्ति पर उदात्त स्वर चला जाता है,[3] जैसे— चतुर्णाम्। किन्तु जिन विभक्ति-रूपों में झलादि (भ्, स् से प्रारम्भ होने वाले) विभक्ति प्रत्यय परे हों तो विभक्ति के उपधा वाले अच् पर उदात्त रहता है,[4] जैसे—चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्षु।

ख. चतुर् शब्द का स्त्रीलिंग में चतसृ आदेश होता है।[5] चूंकि चतुर् शब्द आद्युदात्त होता है और चतसृ शब्द चतुर् का ही स्थानिवत् है, इसलिये यह भी आद्युदात्त होता है।[6] वार्तिककार ने भी चतसृ शब्द के आद्युदात्त होने का विधान किया है।[7] वार्तिककार का यह विधान यह बताता है, कि त्रि शब्द का स्त्रीलिंग में तिसृ आदेश होने पर तिसृ शब्द अन्तोदात्त होता है, किन्तु चतसृ शब्द अन्तोदात्त नहीं होता। आद्युदात्त चतसृ शब्द का जस् तथा शस् विभक्ति प्रत्यय परे होने पर पदान्तीय ऋ का र् होकर चतस्रः रूप बनता है[8] और यहां उदात्त स्वर

---

१. ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा. ६.१.१९७।

२. चतुरः शसि। पा. ६.१.१६७।

३. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः। पा. ६.१.१७९।

४. झल्युपोत्तमम्। पा. ६.१.१८०।

५. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ। पा. ७.२.९९।

७. चतसर्याद्युदात्तनिपातनं कर्तव्यम्। पा.वा.७.२.९९।

८. अचि र ऋतः। पा. ७.२.१००।

अविचलित रहता है, किन्तु षष्ठी में हलादि विभक्ति परे होने पर उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[1] जैसे—चतसृणाम् । हलादि विभक्ति में भी यदि झलादि विभक्ति परे हो, तो उदात्त स्वर हलादि विभक्ति से पूर्व अच् पर होता है,[2] जैसे—चतसृभिः, चतसृभ्यः, चतसृषु ।

(४) पञ्चन्, नवन्, दशन्, आदि आद्युदात्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों का उदात्त नाम् प्रत्यय परे होने पर विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[3] जैसे—पञ्चानाम्, नवानाम्, दशानाम्, इत्यादि । किन्तु झलादि विभक्ति परे होने पर विभक्ति से पूर्व वाले वर्ण पर उदात्त होता है,[4] जैसे—पञ्चभिः, पञ्चभ्यः, पञ्चसु; नवभिः, नवभ्यः, नवसु; दशभिः, दशभ्यः, दशसु, इत्यादि ।

(५) अन्तोदात्त सप्तन् शब्द का उदात्त षष्ठी को छोड़कर सभी विभक्तियों में अविचलित रहता है, जैसे—सप्तभिः, सप्तभ्यः, सप्तसु । षष्ठी में उदात्त हलादि विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[5] जैसे—सप्तानाम् ।

(६) अन्तोदात्त अष्टन् शब्द का उदात्त, जहां विभक्ति से पूर्व अष्ट का अष्टा हो जाता है, विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[6] जैसे—अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टानाम्, अष्टासु । किन्तु यदि अष्ट का अष्टा न हुआ तो उदात्त विभक्ति पर न जाकर अपने मूलस्थान पर ही रह जाता है, जैसे—अष्टसु ।

---

१. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः । पा. ६.१.१७९ ।
२. झल्युपोत्तमम् । पा. ६.१.१८० ।
३. झल्युपोत्तमम् । पा. ६.१.१८० ।
४. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः । पा. ६.१.१७९ ।
५. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः । पा. ६.१.१७९ ।
६. अष्टनो दीर्घात् । पा. ६.१.१७२ ।

(७) क्रमवाचक संख्या-पदों का उदात्त स्वर प्रायः अन्तिम अक्षर पर रहता है। पुंलिंग तथा नपुंसक में ये अकारान्त होते हैं, इसलिए इनका उदात्त (सम्बोधन को छोड़कर) सर्वत्र अविचलित रहता है, जैसे—पु.—प्रथमः, प्रथमास:, प्रथमम्, प्रथमान्, प्रथमाय, प्रथमस्य, प्रथमे; नपुं—प्रथमे, प्रथमानि। स्त्रीलिंग में भी आकारान्त होने के कारण सभी विभक्तियों में उदात्त अविचलित रहता है। जैसे—प्रथमा, प्रथमाम् इत्यादि। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा सप्तथ शब्द अन्तोदात्त न होकर मध्योदात्त होते हैं और इनका उदात्त स्वर सभी विभक्तिरूपों में अविचलित रहता है।

४. सर्वनामपदों का विभक्ति-स्वर—

(१) यद्, तद्, एतद् किम् तथा स्व सर्वनाम पुंलिंग में अकारान्त तथा स्त्रीलिंग में आकारान्त प्रातिपदिकों के समान सभी विभक्ति-रूपों में उदात्त को मूलस्थान पर सुरक्षित रखते हैं, जैसे—यद्- (पु.) ए.व.—येन, यस्मै, यस्मात्, यस्य, यस्मिन्; द्वि.व.—याभ्याम्, ययोः; ब.व.—यैः- येभिः, येभ्यः, येषाम्, येषु; (स्त्री.) ए.व.—यया, यस्यै, यस्याः, यस्याम्; द्वि.व.—याभ्याम्, ययोः; ब.व.—याभिः, याभ्यः, यासाम्, इत्यादि।

(२) इदम् सर्वनाम का तीनों लिंगों में तृतीयादि विभक्तियों में जो अश् आदेश होता है, और जितने अश्-युक्त रूप बनते हैं, वे अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होते हैं,[1] जैसे—(पु.) ए.व.—अस्मै, अस्मात्, अस्य, अस्मिन्; द्वि.व.— आभ्याम्; (स्त्री.) ए.व.— अस्यै, अस्याः, अस्याम्, द्वि.व.—आभ्याम्; ब.व.—आभिः, आभ्यः, आसाम्, आसु। किन्तु अन्वादेश न होने पर उदात्त स्वर विभक्ति के अच् पर चला जाता है,[2] जैसे—

---

१. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ। पा.२.४.३२।
अन्वादेश-स्वर के विषय में विशेष द्रष्टव्य, पीछे पृ. २८-२९।
२. ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः। पा. ६.१.१७१।

(पु.) ए.व.—अनेन, अस्मै, अस्मात्, अस्य, अस्मिन्; द्वि.व.—आभ्याम्, अयोः; (स्त्री.) ए.व.—अया- अनया, अस्यै, अस्याः, अस्याम्; द्वि.व.—आभ्याम्, अयोः; ब.व. —आभिः, आभ्यः, आसाम्। जिन विभक्तिरूपों में अश् आदेश नहीं होता उन विभक्तिरूपों को भी अन्वादेश होने पर तृतीयादि विभक्तियों में सर्वानुदात्त होता है, जैसे— एभिः, एभ्यः, इत्यादि, किन्तु अन्वादेश न होने पर इनमें उदात्त स्वर विभक्ति पर होता है, जैसे— एभिः, एभ्यः, इत्यादि।

(३) एतत् सर्वनाम पद का द्वितीया विभक्ति से लेकर आगे एन आदेश होने पर उसके जितने रूप बनते हैं, वे सभी अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होते हैं,[1] जैसे—एनम्, एनाः, एनाम्, एनान्, एने, एनोः। अन्वादेश न होने पर तृतीयादि विभक्तियों में विभक्ति के अच् पर उदात्त होता है, जैसे—एना। एन के अन्तोदात्त होने के विषय में काफी विवाद है।

(४) त्व सर्वनाम पद सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे—त्वः, त्वम्, त्वेन, त्वस्मै, त्वत्, त्वे, इत्यादि।

(५)क. अस्मद् तथा युष्मद् सर्वनाम पद मदिक् प्रत्ययान्त होने के कारण अन्तोदात्त होते हैं।[3] षष्ठी एकवचन में इनके क्रमशः मम तथा तव आदेश होते हैं, जो आद्युदात्त होते हैं।[4] चतुर्थी एकवचन में इनके क्रमशः मह्यम्—मह्य तथा तुभ्यम् आदेश होते हैं, और ये भी आद्युदात्त होते हैं।[5] इसी प्रकार तृतीया, और सप्तमी एकवचन में भी उदात्त प्रथम वर्ण

१. द्वितीयाटौस्स्वेनः। २.४.३४।
२. त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्। निरु. १.७।
३. कितः। पा.६.१.१६५।
४. युष्मदस्मदोर्ङसि। पा.६.१.२११।
५. ङयि च। पा. ६.१.२१२।

पर होता है, जैसे—मया, मयि; त्वया, त्वयि। शेष रूपों में उदात्त अविचलित रहता है, जैसे—अहम्, आवाभ्याम्, अस्माभिः, अस्मद्, अस्माकम्, अस्मासु; युवाम्, युष्मान्, युष्माभिः, युष्मद्, युष्माकम्, युष्मासु, इत्यादि।

(ख) अस्मद् तथा युष्मद् शब्द के द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्तियों में जो आदेश रूप होते हैं, जिनका प्रयोग पाद के मध्य में ही किया जाता है, वे हमेशा अनुदात्त होते हैं,[1] जैसे—मा, मे, नौ, नः; त्वा ते, वाम्, वः।

---

१. द्रष्टव्य, पीछे पृ. २७, टि. १।

पंचम अध्याय

समास-स्वर-प्रकरण

समास-स्वरों की विविधता

अर्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध दो या दो से अधिक पदों को जब इतना सन्निकट रखा जावे कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जावे और दोनों मिलकर एक पद के रूप में दिखाई पड़ें समास कहलाता है। समास के विभिन्न पद जब अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से आते हैं तो उनका अपना-अपना उदात्त स्वर होता है, किन्तु समास होने पर जब दोनों पद एक पद के रूप में परिणत हो जाते हैं, तो उनका उदात्त स्वर दोनों पदों में से किसी एक पर रह जाता है। सामान्य रूप से, पाणिनि के अनुसार, समास के अन्तिम अक्षर पर उदात होता है।[1] वेंकट माधव ने इस बात का उल्लेख किया है कि जिस समास में उत्तरपदार्थ की प्रधानता होती है, उसमें सामान्य रूप से उत्तरपद में उदात्त होता है,[2] जैसे—सुरूपकृत्नु, द्रविणोदा, हव्यवाहम् , पुरुप्रियम् , हिरण्यरथम् , इत्यादि। जहां पूर्व पद की प्रधानता हो वहां उदात्त पूर्वपद में होता है,[3] जैसे—भर्गभक्तस्य, विप्रजूतः, अनाधृष्टासः, अस्तृतम् , इत्यादि। किन्तु इसके कई अपवाद भी मिलते हैं। किन्हीं समासों में उदात्त पूर्वपद पर रहता है और किन्हीं में वह उत्तरपद पर होता है। कभी-कभी वह उदात्त पूर्वपद या उत्तर-

---

१. समासस्य। पा. ६.१.२२३।

२. तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते।
उदात्तस्तत्र भवति......॥ वेंकट, ऋ.दी.१.३३.१, उपक्र. श्लो. ३।

३. यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः प्रस्फुटो भवेत्। वही, उपक्र. श्लो.५.।

पद के प्रकृति स्थान पर रहता है, किन्तु कभी-कभी उसका स्थान परिवर्तित भी हो जाता है। समास में स्वरों की यह विविधता बहुत कुछ अर्थ पर आधारित होने के कारण समास के विविध भेदों पर निर्भर करती है। मुख्य रूप से समास ७ प्रकार के हैं—(१) द्वन्द्व समास, (२) तत्पुरुष समास, (३) कर्मधारय समास, (४) द्विगु समास, (५) अव्ययीभाव समास, (६) बहुव्रीहि समास तथा (७) द्विरुक्त समास। इन समासों को स्वर की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है। एक वर्ग वह है जिसमें सामान्य रूप से उदात्त अन्तिम अक्षर पर रहता है और दूसरा वर्ग वह है जिसमें पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है। इनका स्वर-विधान आगे दिया जाता है।

१. द्वन्द्व समास—द्वन्द्व समास में तीन प्रकार की स्वर-प्रक्रिया दिखाई पड़ती है—(१) दोनों पदों को प्रकृति स्वर, (२) पूर्वपद को प्रकृति स्वर तथा (३) उत्तरपद अन्तोदात्त।

(१) देवता द्वन्द्व—जब द्वन्द्व समास में दोनों पद देवतावाचक हों और द्विवचनान्त हों तो दोनों पदों को प्रकृति स्वर होता है,[1] जैसे—मित्रावरुणा इन्द्रावरुणा, इन्द्राबृहस्पती, द्यावापृथिवी, इत्यादि।

अपवाद—किन्तु उपर्युक्त नियम के अपवाद भी मिलते हैं—

(क) दोनों पद देवतावाचक एवं द्विवचनान्त होने पर भी उत्तरपद अन्तोदात्त होता है, जैसे— सूर्याचन्द्रमसौ, ब्रह्मप्रजापती, इत्यादि।

(ख) दोनों पद देवतावाचक न होने पर भी द्विवचनान्त होने पर दोनों पदों को प्रकृति स्वर होता है, जैसे—तुर्वशायदू, मातरापितरा, इत्यादि।

---

१. देवताद्वन्द्वे च। पा. ६.२.१४१।
समप्रधानयोर्द्वन्द्व उदात्त उभयोरपि। वेंकट, ऋ. दी., १.३३.१, उपक्र. श्लो.१०।

(ग) पृथिवी, रुद्र, पूषा तथा मन्थ इन आद्यनुदात्त पदों को छोड़कर शेष आद्यनुदात्त पद उत्तरपद में हों तो दोनों पदों को प्रकृति स्वर नहीं होता[1] इनमें उत्तरपद अन्तोदात्त होता है, जैसे—इन्द्रवायू ; इन्द्राग्नी, ऋक्सामाभ्याम् (वै.तु.—द्यावापृथिवी, सोमारुद्रा, इन्द्रापूषणौ, शुक्रामन्थिनौ, इत्यादि)।

(२) संख्या द्वन्द्व—द्वन्द्व समास में दोनों पद संख्यावाचक होने पर पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[2] जैसे—एकादश, द्वादश, त्रयोदश, इत्यादि। इसी प्रकार और भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है।[3]

(३) समाहार द्वन्द्व—नियमित रूप से बनने वाले द्वन्द्व समास जो बहुवचनान्त होते हैं, अन्तोदात्त होते हैं,[4] जैसे—अहोरात्राणि, अजावयः, भद्रपापाः, इत्यादि। समाहार द्वन्द्व, जो एकवचनान्त होते हैं, अन्तोदात्त होते हैं, जैसे—इष्टापूर्तम्, कृताकृतम्, भद्रपापम्, इत्यादि।

२. तत्पुरुष समास—तत्पुरुष समास सामान्य रूप से अन्तोदात्त होता है, जैसे—मन्त्रविन्, राजपुत्रः, इन्द्रशत्रुः, इत्यादि।

अपवाद—किन्तु कभी-कभी तत्पुरुष समास में पूर्वपद तथा उत्तरपद को भी प्रकृति-स्वर होता है।

(क) पूर्वपद को प्रकृति स्वर—

---

१. नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु। पा. ६.२.१४२।
कार्ययोगी यदि द्वन्द्व उभयोरपि दृश्यते
स्थिते पूर्वपदस्यार्थे द्वितीयस्यापि संग्रहः।
अन्तोदात्तस्ततोद्वन्द्वः......वेंकट, ऋ.दी. १.३३.१, उपक्र.श्लो. ८-९।

२. संख्या। पा. ६.२.३५।

३. राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु। पा. ६.२.३४;
आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी। पा. ६.२.३६;
कार्तकौजपादयश्च। पा. ६.२.३७।

४. समासस्य। पा. ६.१.२२३।

(१) अहीन अर्थ में पूर्वपद द्वितीयान्त (लुक् या अलुक्) हो तथा उत्तरपद क्तान्त हो तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[१] जैसे—अन्तर्गता, संवत्सरमृतम्, इत्यादि।

(२) पूर्वपद तृतीयान्त हो तथा उत्तरपद कर्मवाच्य में क्त-प्रत्ययान्त हो तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[२] जैसे—वरुणगृहीतम्, देवहितम्, नखभिन्नम्, इत्यादि।

(३) चतुर्थ्यन्त पद पूर्वपद में हो तथा उसका अर्थवाचक पद उत्तरपद में हो, तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[३] जैसे—यूपदारु:, इत्यादि। उत्तरपद क्त प्रत्ययान्त होने पर भी पूर्वपद को चतुर्थी तत्पुरुष समास में प्रकृति स्वर होता है,[४] जैसे—मर्त्तुहितम्, गोहितम्, गोरक्षितम्, इत्यादि।

(४) ऐश्वर्यवाची पति शब्द उत्तरपद में होने पर पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[५] जैसे—गृहपतिः, प्रजापतिः, इत्यादि। किन्तु भू, वाक्, चित् तथा दिधिषु पवपूर्व में हों तो उत्तरपद आद्युदात्त होता है,[६] जैसे—भूपतिः (स्वर-व्यत्यय), चित्पतिः, वाक्पतिः, दिधिषपतिम्, भुवनपतिः। ऐसे बहुत से उदाहरण संहिताओं में मिलते हैं, जहां पूर्वपद में भू, चित्, वाक् आदि से भिन्न पद होने पर भी उत्तरपद को प्रकृति स्वर होता है,[७] जैसे—नृपतिः, रयिपतिः, विश्पतिः, इत्यादि। परवर्ती संहिताओं में ऐसे

---

१. अहीने द्वितीया। पा. ६.२.४७।
२. तृतीया कर्मणि। पा. ६.२.४८।
३. चतुर्थी तदर्थे। अर्थे। पा.६.२.४३-४४।
४. क्ते च। पा. ६.२.४५।
५. पत्यावैश्वर्ये। पा. ६.२.१८।
६. न भूवाक्चिद्दिधिषु। पा. ६.२.१९-२०।
७. परादिश्छन्दसि बहुलम्। पा. ६.२.१९९।

उदाहरण मिलते हैं, जहां पति शब्द उत्तरपद में होने पर भी उत्तरपद समास-स्वर के सामान्य नियम के अनुसार अन्तोदात्त होता है, जैसे— अप्सरापतिः, अंहसस्पतिः, चित्पतिः, भुवनपतिः, भूपतिः, वाक्पतिः, इत्यादि।

पत्नी शब्द परे होने पर भी पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है, जैसे—गृहपत्नी, देवपत्नी, इत्यादि। किन्तु कतिपय उदाहरणों में उत्तरपद अ.द्युदात्त दिखाई पड़ता है, जैसे—वसुपत्नी, इत्यादि।

(५) वनस्पत्यादि गण में (षष्ठी तत्पुरुष समास वाले) जिनके अधिकांश पदों में उत्तरपद में पति शब्द है, दोनों पदों को प्रकृति स्वर होता है,[1] जैसे—वनस्पतिः बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, ग्नास्पतिः, जास्पतिः, सदस्पतिः, रथस्पतिः, शचीपतिः, अपांनपात्, नराशंसः, इत्यादि।

(६) पूर्वपद में कोई उपसर्ग हो तथा उत्तरपद कर्मवाच्य में क्त प्रत्ययान्त हो तो पूर्वपद उपसर्ग को प्रकृति स्वर होता है,[2] जैसे—निहितः, पुरोहितः, उपनद्धः, इत्यादि। यदि एक से अधिक उपसर्गों के साथ क्त प्रत्ययान्त पद का समास हो तो अन्तिम उपसर्ग को प्रकृतिस्वर होता है, जैसे—समाहिता, अभ्युद्धृतः, इत्यादि।

(७) पूर्वपद में उपसर्ग हो तथा उत्तरपद तकार (तु को छोड़कर) से प्रारम्भ होने वाला नित्-संज्ञक कृत्-प्रत्ययान्त पद हो तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[3] जैसे —अभिजिति, अनुख्याति, निधातु, इत्यादि।

(८) तवै-प्रत्ययान्त पद उत्तरपद में होने पर पूर्वपद में स्थित

---

१. उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्। पा. ६.२.१४०।
बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंसस्तनूनप्त्रेतनूनपात्। वा. प्रा. २.४७।

२. गतिरनन्तरः। पा. ६.२.४९।
गतिर्गतौ। पा.८.१.७०।

३. तादौ च निति कृत्यतौ। पा. ६.२.५०।

गति-संज्ञक उपसर्गों को तथा उत्तरपद को प्रकृति स्वर होता है,[1] जैसे—अन्वैतवै, अभिचंरितवै, इत्यादि।

(९) जिन तत्पुरुष समासों में उत्तरपद क्तिन् प्रत्ययान्त हो, उनमें पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है, जैसे—देवहूतिः, देवजूतिः, धनंसातिः, सोमंपीतिः, इत्यादि।

(१०) नञ् समास में पूर्वपद (नञ्) को प्रकृति स्वर होता है,[2] जैसे—असंन्यमानः, अविंद्वान्, अकंविः, अनंग्निदग्धः, इत्यादि। यहां पर पूर्वपद नञ् अर्थ का निर्धारण करने वाला होता है, इसलिए वह प्रधान होता है, अतएव उदात्त होता है। कभी-कभी नञ् अनुदात्त भी होता है, जैसे—अयोद्धेर्व, इत्यादि। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिए कि यहां पर उत्तरपद की प्रधानता है।[3]

(ख) उत्तरपद को प्रकृति स्वर—(१) गतिसंज्ञक पद, कारक (क्रिया से सम्बन्धित) तथा उपपद पूर्व में होने पर कृदन्त उत्तरपद को प्रकृति स्वर होता है,[4] जैसे—पुनराधेयः, संज्ञानम्, विज्ञानम्, देवयजनम्, इध्मव्रश्चनः, उच्चैःकृत्यं, इपत्करः, इत्यादि। उपपद समास में अन्, इ, वन् तथा य प्रत्यय वाले कृदन्त पद उत्तरपद में होने पर धात्वंश पर उदात्त रहता है, जैसे—देवमादन्, पथिरक्षि, सोमपावन्, अहिहत्यं, देवहूर्य, इत्यादि। किन्तु (१) उत्तरपद यदि अस् प्रत्ययान्त हो तो पूर्वपद को ही

---

१. तवै चान्तश्च युगपत्। पा. ६.२.५१।

२. तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीय कृत्याः। पा. ६.२.२। अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्। पा.वा. ६.२.२।

३. अनुदात्तश्च दृष्टो नञ् अयोद्धाऽइव दुर्मदः।
तादृशेषूत्तरपदे प्राधान्यमिति निर्णयः॥
वेंकट, ऋ. दी. १.३३.१, उपक्र.श्लो.७।

४. गतिकारकोपपदात् कृत्। पा.६.२.१३९।

प्रकृति स्वर होता है,[1] जैसे—जातवेदसः, विश्वधायाः, इत्यादि ; (२) उत्तरपद में आने वाले वत्त तथा श्रुत पद आशीष अर्थ में अन्तोदात्त होते हैं,[2] जैसे—देवदत्तः, (देवता इसे प्रदान करें, इस प्रकार प्रार्थित देवताओं द्वारा दिया गया), विष्णुश्रुतः (विष्णु इसे सुनें); (३) मन् एवं क्तिन् प्रत्यय तथा व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान, याजक और क्रीत शब्द उत्तरपद में हों, तो उत्तरपद अन्तोदात्त होता है,[3] जैसे—रथवर्त्म, वैलस्थानम् इत्यादि।

३. कर्मधारय समास—कर्मधारय समास तत्पुरुष समास का ही एक अंग होने के कारण सामान्य रूप से अन्तोदात्त होता है,[4] जैसे—प्रथमजा, प्रातर्युज्, महाधन, इत्यादि।

किन्तु (१) जब उत्तरपद इ, मन्, वन् तथा कृत् प्रत्ययान्त हो तो उपधा वाले वर्ण को उदात्त स्वर होता है, जैसे—दुर्गृभिः, सुतर्माणम्, रघुपत्वानः पूर्वपेयम्, इत्यादि; (२) कर्मधारय समास का उत्तरपद क्त-प्रत्ययान्त हो तथा पूर्वपद क्त-प्रत्ययान्त न हो, तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[5] जैसे—श्रेणिकृताः, ऊकृताः, पूगकृताः, निधनकृताः, इत्यादि; (३) कतर तथा कतम पद पूर्वपद में हों तो कर्मधारय समास में पूर्वपद का स्वर विकल्प से प्रकृति स्वर होता है,[6] जैसे—कतरकठः या कतरकठः; कतमकठः या कतमकठः, इत्यादि; (४) आर्य तथा राजा पद पूर्वपद में हों तथा उत्तरपद में ब्राह्मण और कुमार पद हों तो कर्मधारय समास में पूर्वपद को विकल्प से प्रकृति स्वर होता है,[7] जैसे—आर्यकुमारः या आर्यकुमारः, आर्यब्राह्मणः या आर्यब्राह्मणः, राजब्राह्मणः

---

१. गतिकारकोपपदयोः पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्वं च । उ. सू. ६६६ ।
२. कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि । पा. ६.२.१४८ ।
३. मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः । पा. ६.२.१५१ ।
४. समासस्य । पा. ६.१.२२३ ।
५. कर्मधारयेऽनिष्ठा । पा. ६.२.४६ ।
६. कतरकतमौ कर्मधारये । पा. ६.२.५७ ।
७. आर्यब्राह्मणकुमारयोः । राजा च । पा. ६.२.५८-५९ ।

या राजब्राह्मणः, राजकुमारः या राजकुमारः, इत्यादि; (५) कर्मधारय समास में पूर्वपद अव्यय हो तथा उत्तरपद निष्ठा-प्रत्ययान्त हो या ति में अन्त होने वाला कोई कृदन्त पद हो, तो पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[1] जैसे—दुर्हितः पुरोहितः, सुधस्तुतिः, इत्यादि।

४. द्विगु समास— द्विगु समास कर्मधारय का ही एक अंग होने के कारण प्रायः अन्तोदात्त होता है,[2] जैसे— त्रियुगम्, दशाङ्गुलम्, पञ्चर्चम्, षड्गवम्, इत्यादि।

किन्तु (१) इगन्त पद, आय-वाचक पद, कपाल, भगाल, तथा शराव पद उत्तरपद में होने पर पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[3] जैसे—पञ्चारत्निः, पञ्चवर्षः, पञ्चकपालः, इत्यादि। किन्तु इगन्त पद दिष्टि तथा वितस्ति उत्तरपद में होने पर पूर्वपद को विकल्प से प्रकृति स्वर होता है,[4] जैसे—पञ्चदिष्टिः या पञ्चदिष्टिः, पञ्चवितस्तिः या पञ्चवितस्तिः; (२) द्विगु समास में पूर्वपद में बहु पद हो और उत्तरपद में इगन्त आदि पद हों, तो पूर्वपद को विकल्प से प्रकृति स्वर होता है,[5] जैसे—बहुरत्निः, या बहुरत्निः, बहुमास्यः या बहुमास्यः, बहुकपालः; या बहुकपालः, इत्यादि; (३) कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, तथा काण्ड पद उत्तरपद में हों तो द्विगु समास में उत्तरपद आद्युदात्त होता है,[6] जैसे—द्विकंसः, द्विमन्थः, इत्यादि।

५. अव्ययीभाव समास—अव्ययीभाव समास भी सामान्य नियम

---

१. द्र. गतिरनन्तरः। पा. ६.२.४९।
२. समासस्य। पा. ६.१.२२३।
३. इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ। पा.६.२.२९।
४. दिष्टिवितस्त्योश्च। पा.६.२.३१।
५. बह्वन्यतरस्याम्। पा.६.२.३०।
६. कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ। पा. ६.२.१२२।

के अनुसार अन्तोदात्त होता है,[1] जैसे—अनुक्रामम्, अधियज्ञम्, यथास्थानम्, इत्यादि।

किन्तु (१) परि, प्रति, उप तथा अप के परे पार्थक्य-बोधक पद तथा दिन और रात के अंश के बोधक पद उत्तरपद में हों, तो पूर्व पद को प्रकृति स्वर होता है,[2] जैसे—परित्रिगर्तम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, प्रत्यपररात्रम्, उपपूर्वाह्णम्, अपत्रिगर्तम्, इत्यादि; (२) अव्ययीभाव समास में कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष तथा सम पद उत्तरपद में हों, तो इनका प्रथम वर्ण उदात्त होता है,[3] जैसे—उपकूलम्, अनुकूलम्, उपतीरम्, इत्यादि।

६. बहुव्रीहि समास—बहुव्रीहि समास में प्रायः पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है,[4] जैसे—राजपुत्रः, देवपुत्रे, इन्द्रशत्रुः, इत्यादि।

अपवाद—किन्तु कभी-कभी बहुव्रीहि में पूर्वपद को प्रकृति स्वर नहीं होता और कभी-कभी उत्तरपद को भी उदात्त स्वर होता है।

(१) विश्व पद बहुव्रीहि समास में पूर्वपद में होने पर अन्तोदात्त होता है, यदि वह संज्ञा पद हो,[5] जैसे—विश्वावसुः, विश्वरूपः, विश्वकर्मा, विश्वामित्रः, इत्यादि। यदि बहुव्रीहि समास न हो तो विश्व शब्द पूर्व-पद में होने पर सर्वानुदात्त हो जाता है, जैसे—विश्वजनस्य।

---

१. समासस्य। ६.१.२२३।
अन्तोदात्तोऽव्ययीभावः...। वेंकट, ऋ. दी. १.३३.१,
उपक्र. श्लो. १५।
२. परिप्रत्युपापावर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु। पा. ६.२.३३।
३. कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे। पा. ६.२.१२१।
४. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। पा. ६.२.१।
५. बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्। पा. ६.२.१०६।

(२) यदि उपसर्गयुक्त निष्ठाप्रत्ययान्तपद पूर्वपद में हो तो पूर्वपद अन्तोदात्त होता है,[१] जैसे—प्रधौतमुखः, प्रक्षालितपादः, इत्यादि।

(३) वर्ण तथा लक्षणवाची पूर्वपद से परे यदि कर्ण पद हो तो उत्तरपद को आद्युदात्त होता है,[२] जैसे—शुक्लकर्णः, दात्रकर्णः, इत्यादि। संज्ञावाचक तथा उपमानवाचक पद पूर्व में होने पर भी उत्तरपद में स्थित कर्ण पद आद्युदात्त होता है,[३] जैसे— मणिकर्णः, पुष्पकर्णाय, इत्यादि।

(४) संज्ञा तथा उपमानवाचक पद पूर्व में हों और उत्तरपद में कर्ण, पृष्ठ, ग्रीवा तथा जंघा पद हों तो उत्तरपद का आदि वर्ण उदात्त होता है,[४] जैसे—शितिकण्ठाः, गोपृष्ठः, इत्यादि। यदि पूर्वपद उपमानवाचक या संज्ञावाचक नहीं होगा तो उत्तरपदादि को उदात्त स्वर न होकर पूर्वपद को बहुव्रीहि के सामान्य स्वर-नियम के अनुसार प्रकृति स्वर होगा, जैसे—नीलग्रीवः, इत्यादि।

(५) अवस्था-बोधक पद पूर्व में हों तो उत्तरपद शृङ्ग का आदिम वर्ण उदात्त होता है,[५] जैसे— उद्गतशृङ्गः, सुशृङ्गः; इत्यादि। किन्तु यदि पूर्वपद अवस्थाबोधक न हो तो उत्तरपदादि को उदात्त न होकर पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है, जैसे—चतुःशृङ्गः।

(६) यदि शिति पद पूर्वपद में हो तथा भसत् को छोड़ कर कोई भी बह्वच् पद उत्तरपद में न हो तो उत्तरपद को प्रकृति स्वर होता है,[६] जैसे—शितिपादः, शितिभ्रुः (वै.तु.—शितिभसत्) इत्यादि।

---

१. निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम्। पा. ६.२.११०।
विश्वशब्द आद्युदात्तो विश्वे देवासो अप्तिथः।
अन्तोदात्तः समासस्थो विश्वामित्रस्य रक्षति। वेंकट,ऋ.दी.१.४७.१, उपक्र. श्लो. ३।

२. कर्णो वर्णलक्षणात्। पा.६.२ ११२।

३. संज्ञौपम्ययोश्च। पा. ६.२.११३।

४. कर्णपृष्ठग्रीवाजङ्घं च। पा. ६.२.११४।

५. शृङ्गमवस्थायां च। पा. ६.२.११५।

६. शितेर्नित्याबह्वच् बहुव्रीहावभसत्। पा. ६.२.१३८।

(७) मित्र और अजिन पद यदि उत्तरपद में हों और संज्ञावाचक हों तो बहुव्रीहि में ये अन्तोदात्त होते हैं,[1] जैसे—देवमित्रः, मृगाजिनम्, इत्यादि। किन्तु विश्वामित्र में मित्र शब्द अन्तोदात्त नहीं होता।[2]

(८) व्यवधानवाचक अन्तर पद यदि उत्तरपद में हो तो अन्तर शब्द अन्तोदात्त होता है,[3] जैसे—वस्त्रान्तरः।

(९) अङ्गवाचक मुख शब्द उत्तरपद में हो तो वह अन्तोदात्त होता है,[4] जैसे—गौरमुखः। किन्तु अङ्गवाचक न होने पर पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है, जैसे—अग्निमुखाः, इत्यादि। निष्ठान्त तथा उपमानवाचक पद पूर्वपद में हों और मुख शब्द उत्तरपद में हो तो मुख पद विकल्प से अन्तोदात्त भी होता है,[5] जैसे—प्रक्षालितमुखः- प्रक्षालितमुखः, इत्यादि।

(१०) नञ् तथा सु पद यदि पूर्वपद में हों तो उत्तरपद अन्तोदात्त होता है,[6] जैसे—अनायुधासः, अनिन्द्राः सुमेधाम्, सुमतिः, इत्यादि।

किन्तु (क) नञ् के बाद उत्तर पद में जर, मर, मित्र तथा मृत शब्द हों तो उत्तरपद अन्तोदात्त न होकर आद्युदात्त होता है,[7] जैसे—अजरम्, अमरः, अमित्रः, अमृतम्; (ख) सु के बाद उत्तरपद में मनन्त (लोमन् को छोड़कर) तथा असन्त (उषस् को छोड़कर) पद हों तो उत्तरपद आद्युदात्त होता है,[8] जैसे—सुजनिमा, सुपेशसः, इत्यादि; (३) क्रतु, वृषीक, प्रतीक,

---

१. संज्ञायां मित्राजिनयोः। पा. ६.२.१६५।
२. ऋषिप्रतिषेधो मित्रे। पा.वा. ६.२.१६५।
३. व्यवायिनोऽन्तरम्। पा. ६.२.१६६।
४. मुखं स्वाङ्गम्। पा. ६.२.१६७।
५. निष्ठोपमानादन्यतरस्याम्। पा. ६.२.१६९।
६. नञ्सुभ्याम्। पा. ६.२.१७२।
७. नञो जरमरमित्रमृताः। पा. ६.२.११६।
८. सोर्मनसी अलोमोषसी। पा. ६.२.११७।

प्रणीति, प्रपूर्ति, हव्य तथा भग ये पद सु के बाद उत्तरपद में हों, तो उत्तरपद आद्युदात्त होता है,[1] जैसे—सुक्रतुः, सुदृशीकः, सुप्रतीकः, सुभगाः, इत्यादि; (४) सु के परे उत्तरपद में द्व्यच् आद्युदात्त पद हो तो उत्तरपद को प्रकृति स्वर होता है,[2] जैसे—सुरथाः, सुवर्चाः, सुमनाः, इत्यादि। उत्तरपद द्व्यच् न होने पर प्रकृत्या आद्युदात्त होने पर भी वह अन्तोदात्त हो जाता है; जैसे—सुहिरण्यः; (५) वीर और वीर्य पद सु के बाद उत्तरपद में हों, तो वे आद्युदात्त होते हैं,[3] जैसे—सुवीराः, सुवीर्यस्य, इत्यादि; (६) बहु पद यदि पूर्वपद में हो तो उत्तरपद का स्वर नञ्-पूर्व समास के स्वर के समान ही होगा,[4] जैसे—बहुजरः, बहुमरः, बहुमित्रः, इत्यादि; (७) द्वि तथा त्रि शब्द पूर्वपद में हों तथा पाद्, दत् तथा मूर्धा शब्द उत्तरपद में हों, तो उत्तरपद अन्तोदात्त होता है,[5] जैसे—द्विपदी, त्रिमूर्धानम् इत्यादि।

इस प्रकार बहुव्रीहि समास में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों में उदात्त स्वर दिखाई पड़ता है। इसलिए अर्थ के अनुसार उनमें कहीं पूर्वपद को उदात्त करना चाहिए, कहीं उत्तरपद को।[6] जहां पूर्वपद की अर्थ-निर्धारण में प्रमुखता होगी, वहां पूर्वपद में उदात्त स्वर होगा और जहां उत्तरपद की प्रमुखता होगी वहां उत्तरपद में उदात्त होगा।

---

१. क्रत्वादयश्च। पा. ६.२.११८।

२. आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि। पा. ६.२.११९।

३. वीरवीर्यौ च। पा. ६.२.१२०।

४. बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि। पा. ६.२.१७५।

५. द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ। पा. ६.२.१९७।

६. उदात्तश्चोभयोर्दृष्टः पूर्वस्मिन्नपि चोत्तरे।
उदात्तानुगुणश्चार्थो दर्शनीय इति स्थितिः॥
वेंकट, ऋ. दी. १.३३.१ उ.क्र., श्लो. १४।

७. द्विरुक्त समास— द्विरुक्त समास में पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है तथा उत्तरपद सर्वानुदात्त होता है,[१] जैसे—प्रप्र, दिवेदिवे, पिबपिब इत्यादि।

किन्तु सादृश्यरूप प्रकार-बोधक होने पर समास के सामान्य स्वर-नियम के अनुसार वह अन्तोदात्त होता है, जैसे—पटुपटुः मृदुमृदुः यथायथम्, इत्यादि।

समासस्वर में जो नियम दिए गए हैं, उनके अपवाद के साथ-साथ कहीं-कहीं स्वर-व्यत्यय भी मिलते हैं। आचार्यों एवं भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में स्वर-व्यत्ययों का उल्लेख किया है। समास-स्वर की इस विविधता और स्वर-व्यत्यय को देख कर वार्तिककार ने लिखा है—

परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्ता अपि दृश्यते।
पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं ततः॥ पा.वा. ६.२.१९९।

अर्थात् समास में कहीं उत्तरपद का आदि वर्ण, कभी अन्तिम वर्ण कभी पूर्वपद का अन्तिम वर्ण, कभी आदि वर्ण को उदात्त देखा जाता है। इनमें अनेक स्वर-व्यत्यय दिखाई पड़ते हैं।

८. नित्य-समास—इव का जब किसी पद के साथ समास होता है, तो वह नित्य समास कहलाता है और उसमें पूर्वपद को हमेशा प्रकृति स्वर होता है,[२] जैसे—नासत्येव, अयोद्धेव, इत्यादि।

---

१. तस्य परमाम्रेडितम्। अनुदात्तं च। ८.१.२-३।

२. इवेन समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्। पा.वा.६.१.२२३।

षष्ठ अध्याय

आख्यात-स्वर-प्रकरण

मुख्य धातुओं में आख्यात-स्वर

वैदिक आख्यात-रूपों में गणों का बन्धन यद्यपि नहीं पाया जाता, किन्तु स्वर की दृष्टि से उनका बड़ा महत्व है। एक ही धातु भिन्न-भिन्न गणों में होने पर उसका स्वर भी भिन्न-भिन्न होता है। प्रत्येक गण की धातुओं के रूप ग्यारह लकारों में मिलते हैं। इन लकारों को विकरण के आधार पर सामान्य रूप से सार्वधातुक तथा आर्धधातुक दो भागों में विभक्त किया जाता है। जिन लकारों में धातु के साथ तिङ्[1] और शित् प्रत्यय लगे हों और उन दोनों के बीच कोई विकरण लगा हो तो उन को सार्वधातुक[2] लकार कहते हैं। जिनमें तिङ् तथा शित् प्रत्यय न लगे हों, उनको आर्धधातुक लकार कहते हैं।[3] लट्, लोट्, लिङ्, लेट् (वर्तमानकालिक) तथा लङ् सार्वधातुक लकार हैं तथा शेष—लिट्, लुङ्, लुट्, लृङ्, लृट् तथा आशीः आर्धधातुक लकार हैं। स्वर की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है।

सभी धातुयें अन्तोदात्त होती हैं। जो धातुयें एकाच् हैं, उनको अन्तोदात्त कहें या आद्युदात्त कहें दोनों एक ही बात है, किन्तु जो धातुयें बह्वच् हैं, उनका अन्तिम वर्ण उदात्त होता है। पाणिनि का धातोः (६.१.६२) सूत्र मुख्य रूप से उन्हीं धातुओं के स्वर का निर्णायक है

---

१. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्। पा.३.४.७८।

२. तिङ्शित्सार्वधातुकम्। पा.३.४.११३।

३. आर्धधातुकं शेषः। पा. ३.४.११४।

जो बह्वृच् हैं। सार्वधातुक तथा आर्धधातुक लकारों में धातु का स्वर कभी विकरण पर कभी तिङ् प्रत्यय पर भी विचलित होता देखा जाता है।

१. सार्वधातुक लकारों में आख्यात-स्वर—

(१) भ्वादि गण की धातुओं के साथ सार्वधातुक लकारों में शप् (अ) विकरण लगता है, जो पित् होने के कारण अनुदात्त होता है। इसलिये लट्, लोट्, लेट् तथा लिङ् में उदात्त स्वर धात्वंश पर ही होता है, यथा—√भू—भवति, भवतु, भवाति, भवेत्, इत्यादि।

(२) अदादि गण की धातुओं के साथ कोई विकरण नहीं लगता। लट् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन परस्मैपद के रूप, लेट् (वर्तमानकालिक) के रूप, तथा लोट् परस्मैपद प्रथम पुरुष एकवचन का रूप, इनमें धात्वंश पर ही उदात्त होता है, क्योंकि इनमें तिङ् प्रत्यय से पूर्व धातु को गुण होता है, जो सबल (Strong) है। किन्तु शेष निर्बल (Weak) रूपों में, जिनमें धातु को गुण नहीं होता, उदात्त प्रत्ययांश पर चला जाता है। यथा—

√इ 'जाना' परस्मैपद

लट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	एति	इतः	यन्ति
म.	एषि	इथः	इथ
उ.	एमि	इवः	इमः, इमसि

लोट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	एतु	इताम्	यन्तु
म.	इहि, इतात्	इतम्	इत, इतन

लेट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	अयति, अयत्	अयतः	अयन्
म.	अयसि, अयः	अयथः	अयथ
उ.	अयानि	अयाव	अयाम

लिङ्

प्र.	इयात्	इयाताम्	इयुः
म.	इयाः	इयातम्	इयात
उ.	इयाम्	इयाव	इयाम

√ब्रू 'बोलना'

आत्मनेपद-लट्

प्र.	ब्रूते	ब्रुवाते	ब्रुवते
म.	ब्रूषे	ब्रुवाथे	ब्रूध्वे
उ.	ब्रुवे	ब्रूवहे	ब्रूमहे

लोट्

प्र.	ब्रूताम्	ब्रुवाताम्	ब्रुवताम्
म.	ब्रूष्व	ब्रुवाथाम्	ब्रूध्वम्

लेट्

प्र.	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त
म.	ब्रवसे	ब्रवैथे	ब्रवध्वे
उ.	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

लिङ्

प्र.	ब्रुवीत	ब्रुवीयाताम्	ब्रुवीरन्
म.	ब्रुवीथाः	ब्रुवीयाथाम्	ब्रुवीध्वम्
उ.	ब्रुवीय	ब्रुवीवहि	ब्रुवीमहि

उपर्युक्त √इ तथा √ब्रू के जिन रूपों में धातु को गुण या गुण होकर अयादि आदेश हुआ है, उनमें उदात्त स्वर धात्वंश पर ही है। शेष रूपों में, जिनमें गुण नहीं हुआ है, उदात्त तिङ् प्रत्यय पर है।

किन्तु अदादि गण की ११ धातुओं—आस, ईड, ईर, ईश, चक्ष, तक्ष, त्रा, निंस, वस, शी तथा सू—के सार्वधातुक लकारों में (लङ् को छोड़कर) सर्वत्र धात्वंश ही उदात्त होता है। कभी-कभी इन धातुओं

के अतिरिक्त इस गण की अन्य धातुयें भी लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद में धात्वंश पर ही उदात्त रखती हैं, जैसे—यक्ष्व (√यज)। स्वप, श्वस आदि धातुयें सार्वधातुक लकारों में, यदि उनके परे अजादि प्रत्यय हों और अनिट् हों, तो विकल्प से आद्युदात्त होती हैं,[1] जैसे—स्वपन्ति-स्वपन्ति; श्वसन्ति-श्वसन्ति, हिंसन्ति-हिंसन्ति। यदि उनके परे अजादि प्रत्यय या अनिट् प्रत्यय न हों तो धात्वंश को उदात्त न होकर प्रत्ययांश को उदात्त होता है, जैसे—स्वप्यात्, हिंस्यात्, स्वपितः, श्वसितः, इत्यादि।

(३)क. जुहोत्यादि गण की धातुयें जिनके प्रथम वर्ण का द्वित्व हो जाता है, अनिट् अजादि लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त होती हैं,[2] जैसे—ददति, दधति, इत्यादि। सार्वधातुक प्रत्यय से पूर्व इट् होने पर तथा हलादि प्रत्यय परे होने पर जुहोत्यादि गण की धातुओं का द्वित्व वर्ण उदात्त नहीं होता, प्रत्यय उदात्त होता है, जैसे—जुक्षितः, दुद्यात्, इत्यादि। हलादि प्रत्यय परे होने पर भी यदि प्रत्यय अनुदात्त है, तो द्वित्व रूप ही उदात्त होता है,[3] जैसे—ददाति, दधासि, इत्यादि। यह नियम केवल लट् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन के साथ ही लागू होता है, क्योंकि इन्हीं के साथ लगे तिप्, सिप् एवं मिप् प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त होते हैं।

भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा तथा जागृ धातुयें लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर एकवचन में आद्युदात्त नहीं होतीं, इनका प्रत्यय से पूर्व वाला वर्ण उदात्त होता है,[4] जैसे—बिभेति, जिह्रेति, बिभर्ति, जुहोति, ममत्तु, जजनत् (लेट्) दधनत् (लेट्) दरिद्राति, जागर्ति, इत्यादि।

---

१. स्वपादिर्हिंसामच्यनिटि। पा. ६.१.१८८।
२. अभ्यस्तानामादिः। पा. ६.१.१८९।
३. अनुदात्ते च। पा.६.१.१९०।
४. भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति। पा.६.१.१९२।

एकवचन से भिन्न लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर अभ्यस्तानामादिः, इस सामान्य नियम के अनुसार द्वित्व वर्ण को हि उदात्त स्वर होता है, जैसे— बिभ्रति, जाग्रति, इत्यादि ।

ख. लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर जिन रूपों में गुण नहीं होता, वहां प्रत्ययांश को ही उदात्त होता है, जैसे— बिभृतः, बिभृथः, बिभृथ, बिभृमः, बिभृमसि, इत्यादि । गुण होने पर आद्युदात्त ही होता है, जैसे— बिभर्ति, बिभर्षि, बिभर्मि, इत्यादि । सार्वधातुक लकार में √भृ धातु के रूपों में उदात्त-स्वर उत्तरोक्त प्रकार से देखा जा सकता है—

परस्मैपद-लट्

प्र.	बिभर्ति—बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति
म.	बिभर्षि—बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ
उ.	बिभर्मि—बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः, बिभृमसि

लोट्

प्र.	बिभर्तु	बिभृताम्	बिभ्रतु
म.	बिभृहि, बिभृतात्	बिभृतम्	बिभृत, बिभृतन

लेट्

प्र.	बिभरत्	बिभरतः	बिभरन्
म.	बिभरः	बिभरथः	बिभरथ
उ.	बिभराणि	बिभराव	बिभराम

लिङ्

प्र.	बिभृयात्	बिभृयाताम्	बिभृयुः
म.	बिभृयाः	बिभृयातम्	बिभृयात
उ.	बिभृयाम्	बिभृयाव	बिभृयाम

आत्मनेपद-लट्

प्र.	बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते
म.	बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
उ.	बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे

लोट्

प्र.	विभृताम्	विभ्राताम्	विभ्रताम्
म.	विभृष्व	विभ्राथाम्	विभ्रध्वम्

लेट्

प्र.	विभरते	विभरैते	विभरन्त
म.	विभरसे	विभरैथे	विभरध्वे
उ.	विभरै	विभरावहै	विभरामहै

लिङ्

प्र.	विभ्रीत	विभ्रीयाताम्	विभ्रीरन्
म.	विभ्रीथाः	विभ्रीयाथाम्	विभ्रीध्वम्
उ.	विभ्रीय	विभ्रीवहि	विभ्रीमहि

(४) दिवादि गण की धातुओं के साथ श्यन् (य) विकरण लगता है।[1] प्रत्यय नित् होने के कारण सार्वधातुक लकारों में जो रूप बनते हैं, उनमें सर्वत्र धात्वंश पर ही उदात्त होता है, जैसे— दीव्यति, दीव्यतु, इत्यादि।

(५) स्वादि गण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में तिङ् प्रत्यय से पूर्व श्नु (नु) विकरण लगता है।[2] जिन रूपों में नु का गुण होकर नो या नव् बनता है, उन रूपों में उदात्त स्वर विकरण पर ही होता है, जैसे— √कृ—कृणोति, कृणोषि, कृणवन्, इत्यादि। किन्तु जिन रूपों में नु का गुण या गुण (नो) का नव् नहीं होता उनमें तथा जिनमें नु का यण् रूप (न्व्) हो जाता है, उदात्त स्वर तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है। सार्वधातुक लकारों में √कृ के रूपों में उदात्त को उत्तरोक्त प्रकार से देखा जा सकता है—

---

१. दिवादिभ्यः श्यन्। पा. ३.१.६९।
२. स्वादिभ्यः श्नुः। पा. ३.१.७३।

परस्मैपद-लट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणोति	कृणुतः	कृण्वन्ति
म.	कृणोषि	कृणुथः	कृणुथ
उ.	कृणोमि	कृण्वः	कृण्मः, कृण्मसि

लोट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणोतु	कृणुताम्	कृण्वन्तु
म.	कृणुहि, कृणु, कृणुतात्	कृणुतम्	कृणुत, कृणोत, कृणोतन

लेट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणवत्	कृणवतः	कृणवन्
म.	कृणवः	कृणवथः	कृणवथ
उ.	कृणवा, कृणवानि	कृणवाव	कृणवाम

लिङ्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणुयात्	कृणुयाताम्	कृणुयुः
म.	कृणुयाः	कृणुयातम्	कृणुयात
उ.	कृणुयाम्	कृणुयाव	कृणुयाम

आत्मनेपद-लट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणुते, कृण्वे	कृण्वाते	कृण्वते
म.	कृणुषे	कृण्वाथे	कृणुध्वे
उ.	कृण्वे	कृण्वहे	कृण्महे

लोट्

	ए. व.	द्वि. व.	ब. व.
प्र.	कृणुताम्	कृण्वाताम्	कृण्वताम्
म.	कृणुष्व	कृण्वाथाम्	कृणुध्वम्

लेट्

प्र.	कृणवते	कृणवैते	कृणवन्त
म.	कृणवसे	कृणवैथे	कृणवध्वे
उ.	कृणवै	कृणवावहै	कृणवामहै

लिङ्

प्र.	कृण्वीत	कृण्वीयाताम्	कृण्वीरन्
म.	कृण्वीथाः	कृण्वीयाथाम्	कृण्वीध्वम्
उ.	कृण्वीय	कृण्वीवहि	कृण्वीमहि

उपर्युक्त √कृ के जिन रूपों में विकरण नु को गुण हुआ है उनमें उदात्त विकरण पर ही है। किन्तु जिन रूपों में गुण नहीं हुआ है तथा नु का यण् रूप (न्व् जो ऋ के कारण ण्व् हो गया है) है, उनमें उदात्त तिङ् प्रत्ययों पर है।

(६) तुदादि गण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में श (अ) विकरण लगता है,[1] जो सर्वत्र उदात्त होता है, जैसे—तुदति, तुदतः, तुदन्ति, तुदतु, तुदताम्, तुदन्तु, इत्यादि। सार्वधातुक लकारों में विकरण अ के बाद प्रत्यय अनुदात्त होते हैं।[2]

(७) रुधादि गण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में तिङ् प्रत्यय से पूर्व श्नम् (न) विकरण लगता है,[3] जो उदात्त होता है। जिन रूपों में न विकरण दिखाई पड़ता है, वहां तो निश्चित रूप से न पर उदात्त स्वर होता है, किन्तु जिन रूपों में न के अ का लोप होकर न् रह जाता है, वहां उदात्त तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है। यथा—√युज् 'जोतना'

---

१. तुदादिभ्यः शः। पा. ३.१.७७।

२. ०अदुपदेशात् लसार्वधातुकमनुदात्तम्। पा. ६.१.१८६।

३. रुधादिभ्यः श्नम्, पा. ३.१.७८।

परस्मैपद-लट्

प्र.	युनक्ति	युङ्क्तः	युञ्जन्ति
म.	युनक्षि	युङ्क्थः	युङ्क्थ
उ.	युनज्मि	युञ्ज्वः	युञ्ज्मः

लोट्

प्र.	युनक्तु	युङ्क्ताम्	युञ्जन्तु
म.	युङ्ग्धि	युङ्क्तम्	युङ्क्त, युनक्त, युनक्तन

लिङ्

प्र.	युञ्ज्यात्	युञ्ज्याताम्	युञ्ज्युः
म.	युञ्ज्याः	युञ्ज्याताम्	युञ्ज्यात
उ.	युञ्ज्याम्	युञ्ज्याव	युञ्ज्याम

लेट्

प्र.	युनजत्	युनजतः	युनजन्
म.	युनजः	युनजथः	युनजथ
उ.	युनजानि	युनजाव	युनजाम

आत्मनेपद-लट्

प्र.	युङ्क्ते	युञ्जाते	युञ्जते
म.	युङ्क्षे	युञ्जाथे	युङ्ग्ध्वे
उ.	युञ्जे	युञ्ज्वहे	युञ्ज्महे

लोट्

प्र.	युङ्क्ताम्	युञ्जाताम्	युञ्जताम्
म.	युङ्क्ष्व	युञ्जाथाम्	युङ्ग्ध्वम्

लिङ्

प्र.	युञ्जीत	युञ्जीयाताम्	युञ्जीरन्
म.	युञ्जीथाः	युञ्जीयाथाम्	युञ्जीध्वम्
उ.	युञ्जीय	युञ्जीवहि	युञ्जीमहि

लेट्

युनजते	युनजैते	युनजन्त
युनजसे	युनजैथे	युनजध्वे
युनजै	युनजावहै	युनजामहै

(८) तनादिगण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में तिङ् प्रत्यय से पूर्व उ विकरण लगता है।[1] जिन रूपों में उ का गुण ओ या अव् होता है, वहां उदात्त स्वर इसी ओ या अव् पर होता है, जैसे—तनोति, तनोषि, तनोमि, तनवाव, तनवाम, इत्यादि। किन्तु जिन रूपों में उ का गुण नहीं होता या यण् रूप व् हो जाता है, वहां उदात्त तिङ् प्रत्यय पर चला जाता है, जैसे—तनुतः, तनुथः, तनुथ; तन्वन्ति, तन्वाते, तन्वते, इत्यादि।

(९) क्र्यादि गण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में तिङ् प्रत्ययों से पूर्व श्ना (ना) विकरण लगता है,[2] जो उदात्त होता है, जैसे—गृभ्णाति, गृभ्णासि, गृभ्णामि, इत्यादि। किन्तु हलादि तिङ् प्रत्ययों से पूर्व जब ना नी में तथा अजादि तिङ् प्रत्ययों से पूर्व न् में बदल जाता है, तब उसका उदात्त स्वर तिङ् प्रत्यय पर चला जाता है, जैसे—गृभ्णीतः, गृभ्णीथः, गृभ्णीथ, गृभ्णीव, गृभ्णीमः, गृभ्णीषे, गृभ्णीध्वे गृभ्णीवहे, गृभ्णीमहे; गृभ्णन्ति, गृभ्णाते, गृभ्णते, गृभ्णाथे, गृभ्णे, इत्यादि।

(१०) चुरादि गण की धातुओं में सार्वधातुक लकारों में णिच् (अय्) विकरण लगता है,[3] जो सभी रूपों में उदात्त होता है, जैसे—√वृत्—वर्तयति, वर्तयते वर्तयथ वर्तयध्वै, वर्तयत, वर्तयतम्, इत्यादि।

---

१. तनादिकृञ्भ्यः उः। पा. ३.१.७९।
२. क्र्यादिभ्यः श्ना। पा. ३.१.८१।
१. ०चुरादिभ्यो णिच्। पा. ३.१.२५।

(११) सार्वधातुक लङ् लकार में सभी गण की धातुओं के पूर्व अट् (अ) का आगम होता है और यही अट् सर्वत्र उदात्त होता है ।[1] जैसे—अभवत्, ऐत्, अब्रवीत्, अविश्रन्, अकृण्वन्, अयुङ्क्तम्, अगृभ्णात्, अवर्तन्त, इत्यादि । कभी-कभी इस अट् का लोप भी हो जाता है, ऐसी परिस्थिति में उस धातु का लट् लकार में जैसा स्वर होता है, वैसा ही यहां स्वर होता है, जैसे—अभरत् , किन्तु भरत् (भरति), इत्यादि ।

२. आर्धधातुक लकारों में आख्यात-स्वर—

(१) लिट् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन परस्मैपद के रूप, लिट् के अन्तर्गत लोट् प्रथम पुरुष एक वचन परस्मैपद का रूप तथा लेट् के सभी रूप सबल (Strong) होते हैं। इनमें उदात्त स्वर मूल धात्वंश पर होता है, जैसे—चकार, चकर्थ, चकर; मुमोक्तु; ततनत् , ततनतः, ततनन्, इत्यादि । लिट् मध्यम पुरुष एकवचन में जब थल् प्रत्यय अन्त में आता है और उसके पूर्व इ का आगम हो तो अभ्यस्त प्रथम वर्ण को विकल्प से उदात्त स्वर होता है,[2] जैसे—बभूविथ–बभूविथ । शेष निर्बल (Weak) रूपों में उदात्त तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है, जैसे—चक्रतुः, चक्रथुः, चकृव, चकृम, बभूवतुः, बभूवथुः, इत्यादि ।

पूर्वपूर्णभूत (Pluperfect) में उदात्त स्वर धातु के द्वित्व रूप से पूर्व अट् पर होता है, जैसे—अचिकेतत्, अजगन्त, इत्यादि । किन्तु जहां अट् का अभाव होता है, वहां उदात्त स्वर मूल धात्वंश पर चला जाता है, जैसे—चिकेतत् , जगन्त इत्यादि ।

(२) लुङ् लकार में सभी गणों की धातुओं से पूर्व अट् का आगम होता है और यह सर्वत्र उदात्त होता है,[1] जैसे—स-लुङ—अधुक्षत् ; स्-लुङ्—अभार्षम् ; इष्-लुङ्—अक्रमिषम् ; सिष्-लुङ्—अयासिषम् ; धातु-लुङ्—अगात् ; अ-लुङ्—अगमत् ; अभ्यस्त-लुङ्—अजीजनत् , इत्यादि ।

---

१. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड् उदात्तः । पा. ६.४.७१ ।
२. थलि च सेडिडन्तो वा । पा. ६.१.१९६ ।

किन्तु लुङ् की विविध अवस्थाओं में ऐसे रूप मिलते हैं, जहां अट् का लोप हो जाता है। उन अवस्थाओं में लुङ् के विविध रूपों में स्वर-विषयक विविधता पाई जाती है—

स्-लुङ्—लुङ् के इस भेद में तिङ् प्रत्ययों से पूर्व स जोड़ा जाता है, जो धातु के पदान्तीय क्, ह् तथा श् के साथ मिलकर क्ष रूप में बदल जाता है। पदादि अट् के अभाव में इसी स (क्ष) को उदात्त स्वर होता है, जैसे— धुक्षन्त, धुक्षस्व, इत्यादि।

स्-लुङ्—लुङ् के इस भेद में भी तिङ् प्रत्ययों से पूर्व स् जोड़ा जाता है। कहीं-कहीं इसका लोप भी हो जाता है। लेट् के रूपों में उदात्त स्वर धात्वंश पर होता है, जैसे—√स्तु—स्तोषति, स्तोषसि, स्तोषाणि, इत्यादि। किन्तु लिङ् तथा लोट् अवस्था के रूपों में उदात्त तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है, जैसे—मंसीय (√मन्) भक्षीय, (√भज्), इत्यादि।

इष्-लुङ्—लुङ् के इस भेद में भी यदि अट् का अभाव हो तो लेट् अवस्था में उदात्त स्वर धात्वंश पर होता है, जैसे—बोधिषत्, (√बुध्) शंसिषम् (√शंस्), इत्यादि। किन्तु लिङ् तथा लोट् अवस्था के रूपों में उदात्त प्रत्ययांश पर चला जाता है, जैसे—एधिषीय (√एध्), इत्यादि।

सिष्-लुङ्— इसके लेट् रूप में उदात्त धात्वंश पर होता है, जैसे—यासिषत् (√या), गासिषत् (√गा)। शेष रूपों में वह प्रत्यय पर चला जाता है, जैसे—यासिषीष्ठाः, यासिष्टम्, यासिष्ट, इत्यादि।

इन चारों प्रकार के लुङ्-भेदों में जहां अट् का अभाव होता है, पाणिनि के अनुसार वहां विकल्प से प्रथम वर्ण उदात्त वाला होता है,[1] जैसे—कार्ष्टाम्—कार्ष्टाम्, लाविष्टाम्—लाविष्टाम्, यासिष्टम्—यासिष्टम्, इत्यादि।

---

१. आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्। पा. ६.१.१८७।

धातु-लुङ्—लुङ् के इस भेद में लेट् अवस्था के रूपों में उदात्त स्वर धात्वंश पर होता है, जैसे—करत्, अवत, गमन्ति, इत्यादि। किन्तु लिङ् तथा लोट् (प्रथम पुरुष एकवचन परस्मैपद को छोड़ कर) में उदात्त स्वर तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है, जैसे—अश्याम्, अशीमहि; कृधि, गतम् भूत, कृष्व, इत्यादि। इ तथा ऋ में अन्त होने वाली धातुओं के जिन रूपों में गुण होकर अयादि आदेश हो जाता है, उनमें उदात्त स्वर धात्वंश पर ही होता है, जैसे—श्रोतु, कर्त (किन्तु कृत) इत्यादि।

अ-लुङ्—लुङ् के इस भेद में धातु के ठीक पश्चात् अ जोड़ा जाता है और धातु के प्रारम्भ वाले अडागम-रहित रूपों में उदात्त स्वर इसी अ पर होता है, जैसे—विदत्, विदेथम्, रुहतम्, इत्यादि। किन्तु लोट् अवस्था में धात्वंश पर भी उदात्त स्वर देखा जाता है, जैसे—सद, सदतम्, इत्यादि।

अभ्यस्त-लुङ्—लुङ् के इस भेद में उदात्त स्वर विकल्प से धात्वंश तथा अभ्यस्त आदिम वर्ण पर होता है,[1] जैसे—पीपरत्-पीपरत्, जीजनत्-जीजनत्, इत्यादि। लोट् अवस्था में तिङ् प्रत्यय पर भी उदात्त मिलता है, जैसे—जिगृतम्, दिधृत, इत्यादि।

(३) लुट् लकार के रूपों में धात्वंश के बाद तास् विकरण लगता है और उसके बाद तिङ् प्रत्यय लगते हैं। तास् विकरण के बाद तिङ् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं,[2] उदात्त स्वर तास् के अच् पर रहता है, जैसे—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः, भविता, भवितारौ, भवितारः, इत्यादि।

(४) लृट् लकार के सभी रूपों में उदात्त स्वर स्य विकरण पर होता है, जैसे—करिष्यति, करिष्याः, करिष्यते, इत्यादि।

(५) लृङ् लकार के सभी रूपों में धातु से पूर्व अडागम होता है और यह उदात्त होता है,[3] जैसे—अकरिष्यत्, अभविष्यत्, इत्यादि।

---

१. चङ्यन्यतरस्याम्। पा. ६.१.२१८।
२. तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तम्। पा.६.१.१८६।
३. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड् उदात्तः। पा. ६.४.७१।

(६) आशीर्लिङ् के रूपों में उदात्त स्वर प्रत्यय पर होता है, जैसे—भूयाः, भूयास्त, भूयासम्, भूयास्म, इत्यादि।

ऊपर जिन आख्यात-स्वर-नियमों का उल्लेख किया गया है, उनमें कहीं-कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है। इसका उल्लेख भाष्यकारों ने वैदिक ग्रन्थों के भाष्य में यत्र-तत्र किया है।

गौण धातुओं का आख्यात-स्वर

मुख्य धातुओं में णिच्, सन्, यङ् तथा यङ्-लुगन्त प्रत्यय लगाकर एवं नामपदों में क्यच् आदि प्रत्यय लगाकर जो धातुयें बनती हैं, उनको गौण धातु कहते हैं। इन गौण धातुओं में तिङ् प्रत्यय लगाकर विविध लकारों में रूप बनते हैं। ये धातुयें ५ प्रकार की हैं—

(१) णिजन्त (Causative), (२) सन्नन्त (Desiderative) (३) यङन्त, (४) यङ् लुगन्त (Intensive or Frequentative) तथा (५) नाम धातु (Denominative)। इनकी स्वर प्रक्रिया आगे दी जाती है—

(१) णिजन्त धातुयें—णिजन्त धातुयें मुख्यधातु में अय् प्रत्यय लगाकर बनती हैं, जिनमें प्रत्ययांश आद्युदात्त होता है। इस प्रकार इनमें उदात्त स्वर हमेशा य् से पूर्व अच् पर रहता है। अयं के बाद आने वाले शप् विकरण तथा तिङ् प्रत्यय सर्वानुदात्त होते हैं, जैसे—पातयति, क्रोधयति, श्रावयति, इत्यादि। जिन रूपों में अडागम होता है, उनमें अट् को स्वर होता है, जैसे—अजिज्ञिपत्, अतिष्ठिपत्, इत्यादि। लृट् लकार के रूपों में स्वर स्य विकरण पर होता है, जैसे—दूषयिष्यामि, धारयिष्यति, इत्यादि। कर्मवाच्य के रूपों में उदात्त य पर होता है, जसे—पन्यते, इत्यादि।

(२) सन्नन्त धातुयें—सन्नन्त धातुयें मूलधातु के प्रथम वर्ण को द्वित्व करके अन्त में स प्रत्यय जोड़कर बनाई जाती हैं। इनमें उदात्त स्वर मूलधातु के द्वित्व वर्ण पर होता है,[1] जैसे—दिदासति, जिगीषति,

---

१. अभ्यस्तानामादिः। पा. ६.१.१८९।

विकीर्षति, इत्यादि। जिन रूपों में पदादि में अडागम होता है, उनमें अट् को ही उदात्त स्वर होता है, जैसे—अविवासत्, अविवासः, इत्यादि।

(३) यङन्त धातुयें—यङन्त धातुयें मूलधातु के प्रथम वर्ण को द्वित्व करके अन्त में य प्रत्यय जोड़कर बनाई जाती हैं। इनका रूप हमेशा आत्मनेपद में बनता है। इन धातुरूपों में उदात्त स्वर अभ्यस्त धातु में लगे य प्रत्यय पर होता है, जैसे—रेरिह्यते, वेविज्यते, इत्यादि।

(४) यङ्-लुगन्त धातुयें—ये धातुयें मूलरूप से यङन्त धातु की ही रूप हैं, अन्तर केवल इतना है कि इनमें य प्रत्यय का लोप हो जाता है और इनके रूप परस्मैपद में भी बनते हैं। मूलधातु के प्रथम वर्ण को द्वित्व करके उनके साथ सीधा तिङ् प्रत्यय लगाकर इसे बनाते हैं। यहां यङ् प्रत्यय के लुक् (लोप) होने से ही इन्हें यङ्-लुगन्त कहते हैं। इनके रूप जुहोत्यादि गण की धातुओं के समान बनते हैं। स्वर की दृष्टि से जुहोत्यादि गण की धातुओं से इनकी समता है। इनमें सबल रूपों में उदात्त स्वर द्वित्व वर्ण पर होता है,[1] जैसे—जोहवीति, चाकसीति, इत्यादि। निर्बल रूपों में उदात्त स्वर प्रत्ययांश पर चला जाता है, जैसे—जर्भृतः, जागृहि, चर्कृतात्, इत्यादि। जिन रूपों में पदादि में अडागम होता है, उनमें उदात्त स्वर अट् पर ही होता है, जैसे—अजागः, अचाकशम्, अजोहवीत्, इत्यादि।

(५) नामधातु—नामधातुयें किसी नामपद में क्यच् आदि प्रत्यय लगाकर बनाई जाती हैं। इनमें उदात्त स्वर क्यच् (य) आदि पर होता है, जैसे—पृतन्यति, वृषायते, गोपायते, इत्यादि। जिनमें अडागम होता है उनमें अट् पर उदात्त होता, जैसे—अनमस्यत्, इत्यादि।

---

१. वही.।

सप्तम अध्याय

संधि-स्वर-प्रकरण

संधि-स्वर की विविध अवस्थायें

उदात्तादि स्वर अक्षराश्रित हैं, व्यञ्जनाश्रित नहीं। इसलिये जब हम संधि-स्वर की बात करते हैं तो संधि-स्वर से हमारा अभिप्राय केवल स्वरसंधि में प्रयुक्त स्वरों से होता है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये ही तीन स्वर हैं। इनमें से प्रत्येक को यदि पदादि तथा पदान्तीय में स्थित माना जाय तो इनकी निम्नलिखित अवस्थायें हो सकती हैं—

(१) उदात्त + उदात्त = उदात्त
(२) उदात्त + अनुदात्त = उदात्त
(३) उदात्त + स्वरित = ×
(४) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त
(५) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त
(६) अनुदात्त + स्वरित = ×
(७) स्वरित + उदात्त = उदात्त
(८) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित, अनुदात्त
(९) स्वरित + स्वरित = ×

उपर्युक्त नव संधिरूपों में तृतीय, षष्ठ तथा नवम के उदाहरण नहीं मिलते, क्योंकि परवर्ती पदादि स्वरित के साथ पूर्ववर्ती उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित की संधि होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि आश्रित स्वरित की सत्ता पदादि में होती ही नहीं, और स्वतन्त्र स्वरित पदादि में होने पर भी ऐसे अच् पर होता है जो व्यञ्जन के साथ संयुक्त होता है। इसलिये व्यञ्जनपूर्व होने के कारण यहां स्वरसंधि होती ही नहीं। शेष स्वर-संधि-रूपों को परिणाम की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—उदात्त एकीभाव, अनुदात्त एकीभाव तथा स्वरित एकीभाव।

१. उदात्त एकीभाव—पदान्त या पदादि में स्थित उदात्त का जब

पदादि या पदान्त में स्थित उदात्त, अनुदात्त या स्वरित के साथ संधि होती है, तो दोनों की संधि से उत्पन्न होने वाला स्वर उदात्त होता है,[1] जैसे—जुजुषाण+उप=जुजुषाणोप, आ+अगात्=आगात्, इन्द्र+आ+इहि=इन्द्रेहि, नयाति+इन्द्रः=नयातीन्द्रः, क्व+इत्=क्वेत्, इत्यादि।

किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं में यदि उदात्त स्वर पदान्त में हो और अनुदात्त पदादि में हो तो दोनों की संधि से जो स्वर उत्पन्न होता है, वह समाहारात्मक होने के कारण स्वरित होता है[2]—

(१) क. पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व इ के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व इ की जो प्रश्लिष्ट संधि होती है, उसमें संधिज स्वर स्वरित होता है,[1] जैसे—स्रुचि+इव=स्रुचीव, दिवि+इव=दिवीव, इत्यादि। यदि पूर्वपदान्त या उत्तरपदादि में दीर्घ ई होगी तो संधिज स्वर एकादेश उदात्तेनोदात्तः, इस सामान्य स्वर-नियम के अनुसार उदात्त होगा, जैसे—हि+ईमिद्धः=हीमिद्धः, रथी+इव=रथीव। इसी प्रकार यदि पूर्वपदान्त अनुदात्त हो तथा उत्तरपदादि उदात्त हो तो पदान्त तथा पदादि में ह्रस्व इकारों की स्थिति होने पर भी संधिज स्वर उदात्त ही होगा, जैसे—अस्ति+इति=अस्तीति, इत्यादि। 'तैत्तिरीय-संहिता' में ह्रस्व इकारों की भी संधि से जो संधिज स्वर होता है, वह उदात्त ही होता है, जैसे—दिवि+इव=दिवीव, स्रुचि+इव=स्रुचीव, इत्यादि।

---

१. उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं संध्यमक्षरम्। ऋ. प्रा. ३.११ परः प्रथमभाविनः। ऋ. प्रा. ३.१६; एकादेश उदात्तेनोदात्तः। पा. ८.२.५।

२. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। ऋ. प्रा. ३.३; स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ। पा. ८.२.६।
इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्। ऋ. प्रा. ३.१३।

३. इकारयोश्च प्रश्लेषे। ऋ. प्रा. ३.१३।

ख. 'तैत्तिरीय-संहिता' में पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् ह्रस्व उ के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व उ की जो प्रश्लिष्ट संधि होती है, उसमें संधिज स्वर स्वरित होता है,[1] जैसे—सु+उन्नीयमिव+ सून्नीयमिव, सु+उद्गाता=सूद्गाता, इत्यादि। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद, शुक्लयजुर्वेद, सामवेद तथा मैत्रायणी में ऐसे स्थलों पर संधिज स्वर उदात्त ही होगा।

ग. ऋग्वेद की माण्डूकेय-शाखा के प्रवर्तक आचार्य माण्डूकेय के अनुसार पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् अच् के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवान् अच् की जो प्रश्लिष्ट संधि होती है, वहां संधिज स्वर सर्वत्र स्वरित होता है।[2] किन्तु ऋग्वेद की माण्डूकेय-शाखा की संहिता आज उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

चूंकि उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में जो संधिज स्वर स्वरित होता है, वह प्रश्लिष्ट संधि में ही होता है, इसलिये इस स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है।[3]

(२) पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् इ तथा उ की उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् असमान अच् के साथ जो क्षैप्र (यण्) संधि होती है, उसमें संधिज स्वर सर्वत्र निश्चित रूप से स्वरित होता है। पाणिनि के अनुसार पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् इ तथा उ का जब क्रमशः य् तथा व् होता है, तो उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् स्वरित धर्म ग्रहण कर लेता है,[4] जैसे— हि+अग्ने=ह्यग्ने, नु+इन्द्र=न्विन्द्र, इत्यादि। यदि पूर्वपदान्तीय इ तथा उ उदात्त-धर्मवान् नहीं होंगे तथा उत्तरपदादि वर्ण

---

१. ऊभावे च। तै.प्रा. १०.१७।
२. माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्। ऋ.प्रा. ३.१४।
३. प्रश्लिष्ट स्वरित के विषय में विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य लेखक की अन्य रचना 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा,' पृ. २०-२६।
४. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य। पा. ८.२.४।

अनुदात्त-धर्मवान् नहीं होगा, तो संधिज स्वर स्वरित न होकर एकादेश उदात्तेनोदात्तः, इस सामान्य स्वर-नियम के अनुसार उदात्त ही होगा, जैसे—वस्त्राणि+अर्ध=वस्त्राण्यर्ध, इत्यादि।

चूंकि यह स्वरित क्षैप्र (यण्) संधि में होता है, इसलिये इसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं।[1]

(३) पूर्वपदान्तीय उदात्त-धर्मवान् ए तथा ओ के साथ उत्तर-पदादि अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व अ की जो अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि होती है, उसमें संधिज स्वर निश्चित रूप से सर्वत्र स्वरित होता है, जैसे—ते+अवर्धन्त=तेऽवर्धन्त, सः+अग्रमः=सोऽग्रमः, इत्यादि। यदि पूर्वपदा-न्तीय ए तथा ओ उदात्त-धर्मवान् नहीं होंगे तथा उत्तरपदादि अ अनुदात्त धर्मवान् नहीं होगा तो संधिज स्वर एकादेश उदात्तेनोदात्तः, इस सामान्य स्वर-नियम के अनुसार उदात्त ही होगा, जैसे—सूनवे+अग्ने=सूनवेऽग्ने, विश्वतः+अदब्धासः=विश्वतोऽदब्धासः, इत्यादि।

चूंकि यह स्वरित अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि में होता है, इसलिये इसे अभिनिहित स्वरित कहते हैं।[2]

२. अनुदात्त एकीभाव—(१) पदान्तीय अनुदात्त-धर्मवान् अच् के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् की जो स्वर-संधि होती है, उसमें संधिज स्वर सर्वत्र अनुदात्त ही होता है, जैसे—पश्येम+अक्षभिः=पश्येमाक्षभिः, भवन्ति+अग्नयः=भवन्त्यग्नयः, इत्यादि।

(२) पदान्तीय आश्रित स्वरित-धर्मवान् अच् के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् की जो संधि होती है उसमें संधिज स्वर अनुदात्त होता है, यदि पदादि अनुदात्त के तुरन्त बाद कोई अनुदात्त स्वर न हो,

---

१. क्षैप्र स्वरित के विषय में विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, लेखक की अन्य रचना 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा', पृ. २६-३१।

२. द्रष्टव्य, वही, पृ. ३१-३२।

जैसे—सचा + एषु = सचैषु। किन्तु यदि पदादि अनुदात्त के ठीक बाद कोई अन्य अनुदात्त स्वर होगा तो संधिज स्वर अनुदात्त न होकर आश्रित स्वरित ही होगा, जैसे—युञ्जन्ति + अस्य = युञ्जन्त्यस्य।

३. स्वरित एकीभाव—(१) पदान्तीय आश्रित स्वरित-धर्मवान् अच् के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् की, यदि पदादि अनुदात्त के ठीक बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो, जो स्वर संधि होती है, उसमें संधिज स्वर स्वरित होता है,[1] जैसे—मधु + उदकम् = मधूदकम्, दधि + आशयति = दध्याशयति, इति + आह = इत्याह, इत्यादि। यदि पदादि अनुदात्त के ठीक बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित होगा, तो वहां संधिज स्वर स्वरित न होकर अनुदात्त ही होगा, जैसे—भुरि + अस्मभ्यम् = भूर्यस्मभ्यम्।

(२) स्वतन्त्र स्वरित-धर्मवान् पदान्तीय अच् के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् अच् की जो संधि होती है, उसमें संधिज स्वर स्वतन्त्र स्वरित होता है, जैसे—क्व + इयथ = क्वेयथ। किन्तु स्वतन्त्र स्वरित तथा पदादि अनुदात्त का संधिज स्वर स्वतन्त्र स्वरित तभी होगा जब उत्तरपदादि अनुदात्त के ठीक बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो। यदि पदादि अनुदात्त के ठीक बाद कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आयेगा, तो संधिज स्वर स्वरित होगा, किन्तु वह कम्प कहलायेगा, जैसे—क्व + इदानीम् = क्वे३दानीम्। 'तैत्तिरीय-संहिता' में पदादि अनुदात्त के बाद उदात्त होने पर भी पदान्तीय स्वतन्त्र स्वरित के साथ पदादि अनुदात्त की संधि से उत्पन्न स्वर स्वतन्त्र स्वरित ही होता है, जैसे—क्वेदानीम्।

---

१. अनुदात्तोदये पुनः स्वरितं स्वरितोपधे। ऋ.प्रा. ३.१२।

अष्टम अध्याय

वाक्य-स्वर-प्रकरण

प्रायः सभी पदों का प्रकृति स्वर वाक्य में ज्यों का त्यों रहता है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। किन्तु कुछ पद ऐसे हैं जिनका प्रकृति स्वर वाक्य में स्थिति-विशेष के कारण परिवर्तित हो जाता हैं। ऐसे पद मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—(१) परिगणित पद, (२) सम्बोधन पद तथा (३) आख्यात पद।

१. परिगणित पदों का वाक्य में स्वर-परिवर्तन

(१) गोत्र, ब्रव, प्रवचन, प्रहसन प्रकथन, प्रत्ययन, प्रपञ्च, प्राय, न्याय, प्रचक्षण, विचक्षण, अवक्षण, स्वाध्याय, भूयिष्ठ, नाम (विकल्प से), प्रवशन तथा प्रयजन ये पद कुत्सा तथा पुनरावृत्ति के भाव में प्रयुक्त हों और मुख्य क्रिया के बाद आवें, तो सर्वानुदात्त होते हैं,[१] जैसे—पचति, गोत्रम्, पचति प्रवचनम्, इत्यादि।

(२) इदम् शब्द के तृतीयादि विभक्तियों में अश् आदेश होने पर जो रूप बनते हैं, वे अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होते हैं।[२]

(३) एतद् सर्वनाम पद का जब अश् आदेश होता है और उसके आगे त्रल् तथा तस् प्रत्यय आते हैं, तो अन्वादेश होने पर वे सर्वानुदात्त होते है,[३] जैसे—अत्र, अतः। किन्तु अन्वादेश न होने पर आद्युदात्त होते हैं, जैसे—ज्योक् चित्रत्र तस्थिवांसो अक्रन् (ऋ.वे. १.३३.१५) ; अतः परिज्मन्नागहि (ऋ.वे.१.६.९), इत्यादि।

---

१. तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः। पा.८.१.२७।

२. उदाहरण आदि के लिये द्रष्टव्य, पीछे पृ. २८।

३. द्रष्टव्य, पीछे पृ. २८, टि.२।

(४) एतद् सर्वनाम का द्वितीया विभक्ति से लेकर आगे एन आदेश होने पर एन के जितने रूप बनते हैं, वे अन्वादेश होने पर सर्वानुदात्त होते हैं, किन्तु अन्वादेश न होने पर विभक्त्यंश पर उदात्त होता है।[1]

(५) यथा पद इव के अर्थ में प्रयुक्त हो और पाद के अन्त में हो, तो सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे—यच्चिद्धि ते विशो यथा (ऋ. वे. १.२५.१) पाद के अन्त में न होने पर तथा इव के अर्थ में प्रयुक्त न होने पर यथा पद आद्युदात्त होता है, जैसे—देवयन्तो यथा मतिम् (ऋ.वे. १.६.६.)।

(६) कम् निपात नु, सु तथा हि के बाद आने पर ही अनुदात्त होता है, जैसे—विष्णोर्नु कं वीर्याणि (ऋ.वे.१.१५४.१)। नु, सु तथा हि उसके पूर्व न हों तो कम् को उदात्त स्वर होता है, जैसे—अजीजन ओषधीर्भोजनाय कम् (ऋ.वे. ५.८३.१०), इत्यादि।

२. सम्बोधन पदों का वाक्य में स्वर-परिवर्तन

(१) सभी प्रकार के सम्बोधन पद पाद के प्रारम्भ में स्थित होने पर आद्युदात्त होते हैं,[3] जैसे—उप आ भाहि भानुना (ऋ. वे.१.४८.९), इत्यादि। किन्तु ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा(ऋ.वे.१.२.८)इस मन्त्र में ऋतावृधौ यह सम्बोधन पद पाद के प्रारम्भ में होने पर भी सर्वानुदात्त है।[4] इसका कारण यह है कि कोई भी कारक पद या सम्बोधन पद अर्थ की दृष्टि से यदि किसी सम्बोधन पद के साथ सम्बन्धित हो, तो वह स्वर की दृष्टि से स्वतन्त्र पद न होकर पूर्व सम्बोधन पद का अङ्ग होता है।[5] यदि पूर्व सम्बोधन पद पाद के अन्त में हो और दूसरा उससे सम्बन्धित सम्बोधन पद दूसरे पाद के प्रारम्भ में हो तो वह भी पूर्व का अङ्ग होता है, अतएव पादादि में होने पर भी स्वर की दृष्टि से स्वतन्त्र पद नहीं होता, वह

---

१. उदाहरण आदि के लिये द्रष्टव्य, पीछे पृ. २९, (३)।
२. यथेति पादान्ते। फि.सू. ८५।
३. आमन्त्रितस्य च। पा. ६.१.१९८।
४. मधुच्छन्दस्यृतावृधौ। ऋ.प्रा. १७.३१।
५. सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे। पा. २.१.२।

सर्वानुदात्त ही होता है। वेंकटमाधव ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि पाद के प्रारम्भ में भी कहीं-कहीं सम्बोधन पद सर्वानुदात्त होता है।[1]

(२) सभी प्रकार के सम्बोधन पद पाद के मध्य या अन्त में स्थित होने पर सर्वानुदात्त होते हैं,[2] जैसे—समु श्रिया नासत्या सचेथे (ऋ.वे. १.११६.१७); यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तम् (ऋ.वे.१.११६.५), इत्यादि।

किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं में पाद के मध्य दिखाई पड़ने पर भी सम्बोधन पद सर्वानुदात्त न होकर आद्युदात्त ही होते हैं—

(क) यदि पाद के प्रारम्भ में कई सम्बोधन पद एक साथ आवें, तो उनमें से प्रत्येक पादादि माना जाता है, क्योंकि पूर्व-पूर्व सम्बोधन पद उत्तर-उत्तर सम्बोधन पद के लिये अविद्यमानवत् समझा जाता है,[3] जैसे—अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः (ऋ.वे. ५.४६.२); इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति (शु.य.सं ८.४३), इत्यादि।

(ख) एक ही व्यक्ति के लिये समानाधिकरण में यदि कई सम्बोधन पद एक साथ पादादि में आवें तो भी पूर्व सम्बोधन पद अविद्यमानवत् समझा जाता है। फलस्वरूप उत्तरवर्ती सम्बोधन पद सर्वानुदात्त न होकर आद्युदात्त होते हैं, जैसे—अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया (ऋ.वे. १.३.२), इत्यादि।

(ग) उपर्युक्त नियमों के अभाव में भी कुछ सम्बोधन पद पाद के मध्य में सर्वानुदात्त न होकर आद्युदात्त ही मिलते हैं, जैसे—चक्रीरश्विना वृषणा नरेति (ऋ.वे. १.११७.१८), इत्यादि।

---

१. अर्थस्वभावादुच्चैस्त्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते।
तथैव नीचैस्त्वमपि तत्रोदाहरणे शृणु॥
वेंकट, ऋ. दी.१.२०.१, उपक्र. श्लो. ४।

२. आमन्त्रितस्य च। पा. ८.१.१९।
अर्थ स्वभावाद् वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते।
ऋ.दी. १.२०.१, उपक्र. श्लोक ३।

३. आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्। पा. ८.१.७२।

किन्तु यदि सम्बोधन पद समानाधिकरण में हों और उनका एक दूसरे के साथ विशेष्य-विशेषण-भावसम्बन्ध हो, तो पादादि सम्बोधन पद अविद्यमानवत् नहीं समझा जाता।[1] ऐसी परिस्थिति में उसके उत्तरवर्ती सम्बोधन पद सर्वानुदात्त हो जायेंगे, जैसे—होतर्यविष्ठ सुक्रतो (ऋ.वे. ४.४.११); अग्ने पावक रोचिषा (ऋ.वे. ५.४.१), इत्यादि। समानाधिकरण वाले सम्बोधन पदों में विशेष्य-विशेषण-भाव-सम्बन्ध होने पर भी यदि पादादि सम्बोधन पद बहुवचन में है,तो वह विकल्प से अविद्यमानवत् समझा जाता है,[2] जैसे—देवीः षळुर्वीः या देवीः षळुर्वीः (ऋ.वे.१०.१२२.५) देवाः शर्मण्याः या देवाः शर्मण्याः (तै.स.२.४.८), सखायः स्तोमवाहसः (ऋ. वे. १.५.१), इत्यादि। वस्तुतः सम्बोधन पदों का आद्युदात्तत्व तथा सर्वानुदात्तत्व वक्ता के कथन के ढंग पर आधारित है। जहां वक्ता सम्बोधन पद पर जोर देगा वहां वह आद्युदात्त होगा, किन्तु जहां जोर नहीं देगा वहां सर्वानुदात्त होगा।[3]

(३) पाद के प्रारम्भ में या मध्य में आने वाले विभक्तियुक्त पद तथा सम्बोधन पद बाद में आने वाले सम्बोधन पद के साथ अर्थ की दृष्टि से यदि सम्बन्धित हों, तो स्वर की दृष्टि से वे बाद में आने वाले सम्बोधन पद के अङ्ग समझे जाते हैं,[4] जैसे—अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती (शुभः। पती) (ऋ.वे. १.३.१); यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनम् दिवः। दुहितः) (ऋ.वे. ७.८१.५); ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा (ऋ.वे. १.३.८); विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये (ऋ.वे. १०.६३.११)

---

१. नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्। पा. ८.१.७३।
२. विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्। पा. ८.१.७४।
३. आमन्त्रिताद्युदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत्।
नीचैरामन्त्रणे कार्ये पदं सर्वं निहन्यते॥
वेंकट, ऋ.दी. १.२०.१,उपक्र. श्लोक २।
४. सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे। पा. २.१.२।

इत्यादि।

वार्तिककार के अनुसार पूर्ववर्ती विभक्तियुक्त पद परवर्ती सम्बोधन पद का अङ्ग तभी समझा जायेगा जब या तो (१) उसका सम्बोधन पद के साथ षष्ठी का सम्बन्ध हो, अर्थात् वह षष्ठी विभक्ति में हो और उसका सम्बन्ध सम्बोधन पद के साथ हो, जैसे—शुभस्पती (शुभः। पती); दिवो दुहितः (दिवः। दुहितः), इत्यादि; या (२) सम्बोधन पद जिस धातु से बना है उस धातु के साथ पूर्ववर्ती विभक्तियुक्त पद का कारक का सम्बन्ध हो,[1] जैसे—परशुना वृश्चन् (परशुना। वृश्चन्)। उपर्युक्त उदाहरणों, शुभस्पती और दिवो दुहितः में शुभः तथा दिवः पद षष्ठी विभक्ति में हैं। इनका प्रकृति स्वर अन्तोदात्त है, किन्तु इनका सम्बन्ध क्रमशः सम्बोधन पद पती तथा दुहितः के साथ है, इसलिये ये षष्ठी विभक्तियुक्त पद उत्तरवर्ती सम्बोधन पद के अङ्ग माने जाते हैं, और इसीलिये आद्युदात्त हैं। इसी प्रकार परशुना वृश्चन् में परशुना तृतीया एकवचन में है। उत्तरवर्ती सम्बोधन पद वृश्चन् के साथ इसका कारक का सम्बन्ध है, क्योंकि वृश्चन् में √व्रश्च धातु का परशु के साथ सम्बन्ध है। इसलिये तृतीया विभक्तियुक्त परशुना पद उत्तरवर्ती सम्बोधन पद का अङ्ग होने के कारण आद्युदात्त है। पूर्व-विभक्तियुक्त पद उत्तरवर्ती सम्बोधन पद का अङ्ग होने के कारण पाद के प्रारम्भ में आद्युदात्त होता है और सम्बोधन पद सर्वानुदात्त होता है।

(४) पाद के आदि या मध्य में आने वाले सम्बोधन पद के बाद आने वाला विभक्तियुक्त पद अर्थ की दृष्टि से सम्बोधन पद का अङ्ग समझा जाता है,[2] जैसे—आ ते पितः मरुताम् (पितः। मरुताम्) (ऋ.वे. २.३३.१); प्रति त्वा दुहितर्दिवः (दुहितः। दिवः) (ऋ.वे. ७.८१.३)।

---

१. षष्ठ्यामन्त्रितकारकवचनं तन्निमित्तग्रहणं वा। पा. वा. २.१.२।
आमन्त्रितं कारकवद् वाक्यार्थेनान्वितं भवेत्।
वेंकट, ऋ.दी. १.२०.१, उपक्र. श्लो. ६।

२. पूर्वाङ्गवच्चेति वक्तव्यम्। पा. वा. २.१.२।

उपर्युक्त उदाहरणों में मरुताम् तथा दिवः पद अपने मूल रूप में सर्वानुदात्त नहीं हो सकते, किन्तु सम्बोधन पद के अङ्ग होने के कारण ये सर्वानुदात्त हैं।

वेंकट माधव ने इस बात का सिद्धान्त रूप में उल्लेख किया है कि आमन्त्रित पदों का पादादि या पाद के मध्य में आद्युदात्त या सर्वानुदात्त होना उसके अर्थ के ऊपर निर्भर करता है। इसलिये विद्वानों को चाहिये कि आमन्त्रित पदों में अर्थ के अनुसार आद्युदात्तत्व या सर्वानुदात्तत्व की कल्पना करें।[1]

३. आख्यात-पदों का वाक्य में स्वर-परिवतन

(१) कोई भी आख्यात पद पाद या वाक्य के प्रारम्भ में स्थित होने पर अपने प्रकृति स्वर से युक्त होता है, अर्थात् 'आख्यात-स्वर-प्रकरण' नामक अध्याय में जिस आख्यात पद की जैसी स्वर-स्थिति बताई गई है, वैसी स्थिति पाद के प्रारम्भ में आख्यात पद के स्थित होने पर होती है, जैसे—त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः (ऋ.वे. १०.६३.११); यच्छा नः शर्म सप्रथः(ऋ. वे.१.२२.१५), इत्यादि।

(२) वाक्य या पाद में आख्यात पद से पूर्व आख्यात पद से भिन्न कोई भी पद आवे तो आख्यात पद सर्वानुदात्त होता है,[2] जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ.वे. १.१.१); अग्ने सुपायनो भव (ऋ.वे. १.१.६), इत्यादि।

किन्तु उत्तरोक्त अवस्थाओं में आख्यात पद से पूर्व आख्यात से भिन्न पद होने पर भी आख्यात पद को सर्वानुदात्त न होकर प्रकृति स्वर होता है—

(क) लुट् लकार के आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होते,[3] जैसे—श्वो

---

१. सर्वत्रार्थस्वभावोऽयमूह्यः प्राज्ञैरिति संस्थितिः।
वेंकट, ऋ.दी. १.२०.१, उपक्र. श्लो.८।

२. तिङ्ङतिङः। पा: ८.१.२८।

३. न लुट्। पा. ८.१.२९।

यज्ञे प्रयोक्तासै (तै.सं.२.६.२.३), इत्यादि।

(ख) आख्यात पद से पूर्व यदि यत्, यदि,[१] हन्त, कुवित्, नेत्[२] चेत्, च (यदि अर्थ में), कच्चित् तथा यत्र निपात आवें, तो आख्यात पद को प्रकृति स्वर होता है,[३] वह सर्वानुदात्त नहीं होता, जैसे—यदग्ने स्यामहं त्वम्(ऋ.वे.८.४४.२३); युवा यदी कृथ:(ऋ.वे.५.७४.५); कुविदङ्ग नमसा ये वृधास: पुरा देवा अनवद्यास आसन् (ऋ.वे. ७.९१.१); नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम (खि. १०.१०६.१)[४]; नेत्त्वा जहानि (अ.वे. १३.१.१२); सं चेन्नयाथो अश्विना (अ.वे.२.३०.२); अस्मजायेति चेदवोचत् (अ.वे.५.१७.३); इन्द्रश्च मृळयाति न: (ऋ.वे. २.४१.११); अचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदाग: (ऋ.वे. ४.१२.४); पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति(ऋ.वे. १.८९ ९), इत्यादि।

(ग) आख्यात पद से पूर्व यदि हि पद आवे तो आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता,[५] जैसे—उरुं हि राजा वरुणश्चकार (ऋ.वे.१.२४.८); अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे (ऋ.वे. १.३२.६), इत्यादि।

(घ) आख्यात पद से पूर्व आख्यात से भिन्न कोई पद हो और आख्यात पद के बाद यत्, हि या तु हो, तो आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं

---

१. कभी-२ यदि का शब्दश: प्रयोग न होने पर भी अगर वाक्य में यदि अर्थ अभिप्रेत हो तो क्रियापद उदात्तयुक्त होता है, जैसे—समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नर: (ऋ.वे. ६.४७.३१)।

२. किन्तु नेत् पद केवल निषेधात्मक निपात के रूप में प्रयुक्त हो तो क्रिया सर्वानुदात्त ही होती है, जैसे—नेच्छत्रु: प्राशं जयाति (अ.वे.२.२७.१)

३. निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्। पा. ८.१.३०।

४. ऋ. वे. (पू. सं.) के चतुर्थ भाग में पृ. ९५६ पर इसका उल्लेख है, किन्तु वहां इसमें स्वराङ्कन नहीं है।

५. हि च। पा. ८.१.३४।

होता,[1] जैसे—गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः (ऋ.वे. २.२३.१२); इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ.वे. १.२.४); आख्यास्यामि तु ते, इत्यादि। किन्तु तु पद क्रियापद से पूर्व हो, तो क्रियापद उदात्तयुक्त न होकर सर्वानुदात्त ही होता है, जैसे—आ त्वेता नि षीदत। (ऋ. वे. १.५.१); आ तू न इन्द्र शंसय (ऋ. वे. १.५.१), इत्यादि।

(ङ) हि पद से युक्त एक से अधिक आख्यात पद साकांक्ष होने पर कभी-कभी सर्वानुदात्त नहीं होते,[2] जैसे—यद्धि मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति। किन्तु अजाह्यग्नेरजनिष्ट गर्भात् सा वा अपश्यज्जनितारमग्ने (तै.सं. ४.२.१०), इत्यादि।

(च) यावत् और यथा के योग में आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता,[3] जैसे—यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे (शु.य.सं. ३२.२६); यथा त उश्मसीष्टये (ऋ.वे. १.३०.१२)।

(छ) अह पद पूर्व में होने पर आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता,[4] जैसे—आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे (ऋ.वे. १.६.४.), इत्यादि।

(ज) जब दो या दो से अधिक आख्यात पदों का सम्बन्ध एक कर्ता के साथ हो और प्रत्येक आख्यात पद च या वा से जुड़ा हुआ हो, तो इनमें प्रथम आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता,[5] जैसे—पितरं च दृशेयं मातरं च (दृशेयम्) (ऋ. वे.१.२४.१); इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि (ऋ. वे. १.६.१०), इत्यादि।

(झ) यद् के किसी भी पुरुष के किसी भी विभक्तियुक्त पद से सम्बन्धित होने पर आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता,[6] जैसे—य ईशिरे

---

१. यद्धितुपरं छन्दसि। पा. ८.१.५६।
२. छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम्। पा. ८.१.३५।
३. यावद्यथाभ्याम्। पा. ८.१.३६।
४. तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम्। पा. ८.१.३९।
५. चवायोगे प्रथमा। पा. ८.१.५९;
६. यद्वृत्तान्नित्यम्। पा. ८.१.६६।

(ऋ. वे. १०.६३.८); यं देवासोऽवथ (ऋ. वे. १०.६३.१४), इत्यादि।

(ञ) एक वाक्य में प्रायः एक ही क्रियापद होता है। किन्तु लगातार कई क्रियापद प्रथम क्रियापद के कर्त्ता के साथ अर्थ की दृष्टि से सम्बन्धित हों तो प्रथम को छोड़कर सभी उदात्तयुक्त होते हैं,[1] क्योंकि उनको नये वाक्य का प्रारम्भिक पद मान लिया जाता है, जैसे—तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ. वे.१.२.१) अभि क्रन्द स्तनय गर्भमाधा (ऋ. वे. ५.८३.७) इत्यादि।

(ट) च या वा के लोप होने पर एक साथ आने वाले कई क्रियापदों में प्रथम क्रियापद उदात्त भी होता है,[2] जैसे—अपामीवां बाधते वेति सूर्यम् (ऋ.वे.१.३५.६। प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत् (ऋ. वे.५.८३.४.)। मैकडानल के अनुसार यह प्रायः तब होता है जब प्रथम क्रियापद का उपसर्ग के साथ समास हुआ हो, और उसके तुरत बाद कोई साधारण क्रियापद हो।[3] किन्तु उपसर्ग के साथ समास न होने पर भी, और दोनों क्रियाओं का कर्ता भिन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से सम्बन्धित होने पर, च या वा के लोप में संयुक्त वाक्य की प्रथम क्रिया उदात्तयुक्त देखी जाती है, जैसे—इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः (ऋ.वे. १.१५.१)।[4] वेंकट माधव ने भी इस बात का

---

१. तु. तिङ्ङतिङः। पा.८.१.१८।

२. चादिलोपे विभाषा। पा. ८.१.६३।

चादिलोपे विभाषेति यस्तिङ् नेह निहन्यते।
स्फुटमर्थं वदेत् तस्य निहतश्चेदथाऽस्फुटम्॥ वेंकट, ऋ.दी.१.२.१।

३. मैकडानल : 'ए वैदिक रीडर' पृ. १६ (ऋ.वे .१.३५.६ का नोट)।

४. अस्य आ त्वा विशन्तु इत्युत्तरवाक्यगतार्थेन सह समुच्चयार्थश्चशब्दो लुप्तः। अतः 'चादिलोपे विभाषा' (पा.सू.८.१.६३) इतीयं प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते। विशन्त्विति तिङ्विभक्तिः पुनः द्वितीयत्वात् निहन्यते एव। सायण, वे.प्र. १.१५.१।

स्पष्ट रूप से कथन किया है कि जहां संयुक्त वाक्य में प्रयुक्त दो क्रियाओं की अर्थ की दृष्टि से स्वतन्त्र स्थिति हो, वहां क्रियापद सर्वानुदात्त होता है, किन्तु जब अर्थ की दृष्टि से दोनों सम्बन्धित होंगे तो प्रथम क्रियापद उदात्तयुक्त होगा।[1] अर्थ की दृष्टि से दोनों क्रियाओं की स्वतन्त्र स्थिति में प्रथम के सर्वानुदात्त होने का उदाहरण, जो वेंकट माधव ने दिया है, वह यह है—मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते (ऋ. वे. १.१८.३)। यह नियम चूंकि वैकल्पिक है, इसलिए कभी-कभी च, वा आदि के लोप में भी प्रथम क्रिया उदात्तयुक्त न होकर सामान्य नियम के अनुसार सर्वानुदात्त ही होती है, जैसे—इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च (ऋ. वे. १.७.४)। वायुविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत् (ऋ.वे.१.२.५), इत्यादि।

(ठ) पादादि सम्बोधन पद के ठीक बाद आने वाला आख्यात पद उदात्तयुक्त होता है, क्योंकि पादादि सम्बोधन पद अविद्यमानवत् समझा जाने के कारण वह आख्यात पद भी पादादि ही समझा जाता है,[2] जैसे—देवा जीवयथा पुनः (ऋ. वे. १०.१३७.१); अग्ने जुषस्व नो हविः (ऋ. वे. ३.२८.१), इत्यादि।

(ड) वै और वाव निपात के योग में आख्यात पद वेद में सर्वानुदात्त नहीं होता,[3] जैसे—यज्ञं वै देवा अदुह्रन् (तै. सं. १.७.१.१); अग्रं वाव हस्त आसीत्, इत्यादि।

---

१. तत्र ब्रूमोऽर्थसंस्थानमिह यस्मिन् भवेत्तिङि।
तत् सर्वानुदात्तं स्यादसंस्थित उदात्तवत्॥
वेंकट, ऋ. दी. १.१.१, उपक्र. श्लो. १५।

२. तिङ्ङतिङः। पा. ८.१.२८।
एक तिङ् वाक्यम्। पा. वा. २.१.१;
एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्। पा. म.२.१.१।

३. वैवावेति च छन्दसि। पा. ८.१.६४।

(ढ) एक तथा अन्य पदों के साथ प्रयुक्त दो तिङन्त पद, जब दो उपवाक्यों में हों, अर्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित न हों और एक तथा अन्य पद दोनों समान ही अर्थ में हों, तो प्रथम क्रियापद उदात्तयुक्त होता है,[1] जैसे—तयोरुन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नुन्यो अभि चाकशीति (ऋ.वे. १.१६४.२०); वृत्राण्युन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्युन्यो अभि रक्षते सदा (ऋ.वे.८.८३.९); प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् (अ. वे. ८.६.१३)।

(ण) गत्यर्थक धातु से लोट् लकार में बने क्रियापद से युक्त कोई दूसरा क्रियापद जो लृट्, लेट्, लोट् उत्तम या मध्यम पुरुष में हो तो द्वितीय वाक्य की क्रिया उदात्तयुक्त होती है,[2] जैसे—एत धियं कृणवाम (ऋ.वे. ५.४५.६); आ याहि कृणवाम त इन्द्र ब्रह्माणि वर्धना (ऋ.वे. ८.६२.४); आ गहि कण्वेषु सु सचा पिब (ऋ. वे. ८.१.३)। किन्तु लोट् लकार में उत्तम पुरुष से भिन्न क्रियापद सोपसर्ग होने पर विकल्प से द्वितीय वाक्य की क्रिया सर्वानुदात्त भी हो जाती है,[3] जैसे—सोम राजन्नेह्यवरोह (तै. सं. १.३.१३.१)।

(त) चन, इद् में कोई भी वाक्य में प्रयुक्त हो और क्रियापद के साथ कोई उपसर्ग न हो तो क्रियापद उदात्तयुक्त होता है,[4] जैसे—न देवा भसथश्चन (ऋ.वे.६.५९.४); अध स्मा नो मघवञ्चर्कृतादित् (ऋ.वे. १.१०४.५), इत्यादि।

(थ) जब किसी उपसर्ग के साथ आख्यात पद का समास होता है तब आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं होता, उपसर्ग ही सर्वानुदात्त हो जाता है,[5] जैसे—अभिशासति, पर्यतिष्ठत्, इत्यादि।

---

१. एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् । पा. ८.१.६५।
२. गत्यर्थलोटा लृण्न चेत्कारकं सर्वान्यत् । लोट् च । पा.८.१.५१-५२ ।
३. विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् । पा. ८.१.५३ ।
४. चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः । पा. ८.१.५७ ।
५. गतिर्गतौ । तिङि चोदात्तवति । पा. ८.१.७०-७१ ।

नवम अध्याय

पदपाठ-प्रकरण

वैदिक ऋषि-कवियों की मनीषा, जो मन्त्र रूप में प्रस्फुटित हुई, छन्दोमय थी। छन्दोमय होने के कारण उसमें एक लय थी, और था उसमें पाद और पादावसान के नियमों का पालन। पाद छन्द की इकाई होते थे, अतएव प्रत्येक पाद का एक प्रयत्न में उच्चारण किया जाता था। जहां दो पाद के बाद अवसान होता था, वहां दो पादों का भी एक ही प्रयत्न में उच्चारण किया जाता था। प्रत्येक पाद में कई पद होते थे। इस प्रकार एक प्रयत्न में उच्चारण करते समय यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक पद के पदान्तीय और पदादि वर्ण एक दूसरे से प्रभावित हों। पादगत पदान्तीय और पदादि वर्णों के बीच समय का किञ्चिदपि व्यवधान किये विना एक प्रयत्न में जो उच्चारण किया जाता था, उसी को संहिता कहा जाता था। संहिता तीन प्रकार की होती है—(१) वर्ण-संहिता, (२) पदसंहिता, और (३) पाद संहिता। वर्णों के सार्थक समर्थ समुदाय को वर्ण-संहिता कहते हैं। सार्थक पदों के समर्थ समुदाय को पद-संहिता कहते हैं और पदों के समर्थ समुदाय को पाद-संहिता कहते हैं। तीनों प्रकार की संहितियों को ध्यान में रखकर जब मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था तो उसे ही संहितापाठ कहा जाता था। वेदाध्ययन के प्रारम्भिक युग में संहितापाठ ही प्रचलित था। विभिन्न शाखाओं में चारों वेदों की संहिताओं का ही पठन-पाठन होता था।

एक समय आया जब अध्ययन करने वालों को संहितागत मन्त्रों के अर्थ को समझने में कठिनाई होने लगी। संहितापाठ में पदान्तीय तथा पदादि वर्णों की संधि के कारण कहीं-कहीं पदों के मूल स्वरूप को समझना दुष्कर हो गया। ऐसी अवस्था में मन्त्रों का वास्तविक अर्थ

समझना कठिन हो गया। इस कठिनाई से बचने के लिये मन्त्रगत पदों को उनके मूल विकार-रहित स्वरूप में उपस्थित करने की आवश्यकता महसूस हुई। परिणाम-स्वरूप आचार्यों ने वेदों की प्रत्येक संहिता के अलग अलग पद-विच्छेद किये। इस प्रकार सभी वेदों की विभिन्न शाखाओं की विभिन्न संहिताओं के पदपाठों की रचना हुई। किन्तु आज कई अनुपलब्ध संहिताओं के साथ-साथ उनके पदपाठ भी अनुपलब्ध हैं। बहुत कम संहिताओं का पदपाठ प्रकाशित हुआ है। इन पदपाठों में जो उपलब्ध हैं, वे हैं—शाकल्य का ऋग्वेद-पदपाठ, आत्रेय का तैत्तिरीय संहिता-पदपाठ तथा गार्ग्य का सामवेद-पदपाठ। माध्यन्दिनसंहिता-पदपाठ तथा अथर्ववेद-पदपाठ भी उपलब्ध हैं, किन्तु इनका रचयिता कौन था, अभी तक ज्ञात नहीं। जहां एक तरफ विभिन्न संहिताओं के पदपाठों की रचना हुई, वहां एक ही संहिता के विभिन्न आचार्यों द्वारा अलग-अलग पदपाठ भी लिखे गये। किन्तु आज वे सभी पदपाठ उपलब्ध नहीं हैं। परवर्ती रचनाओं में इनकी सत्ता का उल्लेख मिलता है। यास्क के समय में ही ऋग्वेद के कई पदपाठ प्रचलित थे, यह बात उनके कतिपय पदों के दिये गये पदपाठ से, जो शाकल्य के ऋग्वेद-पदपाठ से भिन्न है, मालूम होती है। शाकपूणि रथीतर को भी पदपाठकार बताया गया है। रावण-कृत ऋग्वेद-पदपाठ की भी सत्ता मिलती है। पदों के स्वरूप—संधियों, समासों तथा स्वरों—के निर्धारण में आचार्यों में मतभेद था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि एक ही संहितापाठ के कई पदपाठ रचे जांय। पदों की संधि, समास तथा स्वर के विषय में जो मतभेद मिलते हैं, उनका उल्लेख प्रातिशाख्यों में किया गया है। वेद की विभिन्न संहिताओं के पदपाठ के नियम जहां एक-दूसरे से कुछ अंशों में भिन्न हैं, वहां कुछ अंशों में समान भी हैं। इसी प्रकार एक ही वेद के विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये पदपाठ के नियम अधिकांश स्थलों पर समान होने के साथ-साथ कुछ अंशों में भिन्न भी हैं।

ऋग्वेद के पदपाठ के नियम

पदान्तीय तथा पदादि वर्ण संहिता में एक प्रयत्न में उच्चारण के कारण विकृति को प्राप्त होते हैं, इसलिये पदपाठ करते समय सर्वप्रथम पद के मूल स्वरूप को उपस्थित करना चाहिये। पद के मूल स्वरूप को उपस्थित करने के लिये मुख्य चार नियम हैं— (१)सामान्य पद-सम्बन्धी नियम, (२) अवग्रह-सम्बन्धी नियम (३) इतिकरण-सम्बन्धी नियम, तथा (४) स्थितोपस्थित या परिग्रहसम्बन्धी नियम।

१. सामान्य पद-सम्बन्धी नियम

(१) संहितापाठ में विद्यमान असमस्त पदों की सम्पूर्ण संधियों का विच्छेद कर पद को उसके प्रकृति रूप में उपस्थित करना चाहिये। सुविधा के लिये प्रत्येक पद के बाद विराम (।) का चिन्ह लगाना चाहिये, जैसे—

को नो मह्या अदितये पुनर्दात्। (ऋ. सं. पा.१.२४.१)

कः। नः। मह्यै। अदितये। पुनः। दात्। (प.पा.)

(२) संहितापाठ के पदान्तीय अनुस्वार को पदपाठ में म् के रूप में दिखाना चाहिये, जैसे—

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं। (ऋ.सं.पा.२.१२.११)

यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। (प.पा.)

(३) संहितापाठ में पाये जाने वाले छान्दस दीर्घ को पदपाठ में ह्रस्व कर देना चाहिये, जैसे—

वेदा यो वीनां पदम्। (ऋ.सं.पा. १.२५.७)

वेद। यः। वीनाम्। पदम्। (प.पा.)

इमं मे वरुण श्रुधी हवम्। (ऋ.सं.पा.१.२५.१९)

इमम्। मे। वरुण। श्रुधि। हवम् (प.पा.)

अच्छा वद तुवसम् (ऋ.सं.पा. ५.८३.१)
अच्छ । वद । तुवसम् । (प.पा.)

२. अवग्रह-सम्बन्धी नियम

संहितापाठ के कतिपय पदों के बीच पदपाठ में अवग्रह का प्रयोग किया जाता है । अवग्रह के लिये (ऽ) इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है। किसी-किसी संहिता के पदपाठ में अवग्रह के स्थान पर विराम का प्रयोग करते हैं। अवग्रह लगाते समय उत्तरोक्त नियमों को ध्यान में रखना चाहिये—

(१) पदपाठ करते समय समास के दोनों पदों को अलग-अलग नहीं किया जाता। दोनों के बीच अवग्रह लगाकर दोनों पदों का प्रकृति रूप दर्शाया जाता है, जैसे—

बृहस्पते भीमममित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम् । (ऋ.सं.पा.२.२३.३)
बृहस्पते । भीमम् । अमित्रऽदम्भनम् । रक्षःऽहनम् । गोत्रऽभिदम् । स्वःऽविदम् । (प.पा.)

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् । (ऋ.सं.पा. २.३५..१०)
हिरण्यऽरूपः । सः । हिरण्यऽसंदृक् । (प.पा.)

अपवाद—

(क) देवताद्वन्द्व समास के पदों को अवग्रह द्वारा अलग नहीं किया जाता, जैसे—ता मित्रावरुणा हुवे । (ऋ.सं.पा. १.२३.५)
ता । मित्रावरुणा । हुवे । (प.पा)
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति । (ऋ.सं.पा. १.९६.५)
द्यावाक्षामा । रुक्मः । अन्तः । वि । भाति । (प.पा.)

(ख) नञ् समास में नञ् को अवग्रह द्वारा अलग नहीं किया जाता, जैसे—
कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् । (ऋ.सं.पा. १.२४.१)
कस्य । नूनम् । कतमस्य । अमृतानाम् । (प.पा.)

(ग) वनस्पत्यादि गण के समस्तपदों में अवग्रह नहीं लगाया जाता, जैसे—

शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः। (ऋ.सं.पा. १.२४.१२)

शुनःशेपः। यम्। अह्वत्। गृभीतः। (प.पा.)

बृहस्पते भीमम् (ऋ.सं.पा.२.२३.३)

बृहस्पते। भीमम्। (प.पा.)

(२) उपसर्गों के साथ जब किसी कृदन्तपद का समास होता है, तो दोनों के बीच अवग्रह लगाया जाता है, जैसे—

विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तम्। (ऋ.सं.पा. १.११६.२४)

विऽप्रुतम्। रेभम्। उदनि। प्रऽवृक्तम्। (प.पा.)

नातारीदस्य समृतिं वधानाम्। (ऋ.सं.पा. १.३२.६)

न। अतारीत्। अस्य। सम्ऽऋतिम्। वधानाम्। (प.पा.)

(३) जब सर्वानुदात्त उपसर्ग के साथ उदात्तयुक्त क्रियापद का समास होता है, तो दोनों के बीच अवग्रह लगाया जाता है, जैसे—

देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्। (ऋ.सं.पा. २.१२.१)

देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्। (प.पा.)

न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्।(ऋ.सं.पा.१.२४.६)

न। ये। वातस्य। प्रऽमिनन्ति। अभ्वम्। (प.पा.)

किन्तु यदि क्रिया उदात्तयुक्त नहीं होगी तथा उपसर्ग सर्वानुदात्त नहीं होगा तो समास नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उपसर्ग को स्वतन्त्र पद मानकर विराम द्वारा अलग कर दिया जाता है, जैसे—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ.सं.पा. १.१५४.१)

विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। (प.पा.)

(४) यदि दो उपसर्ग पदों के साथ, जिनमें पहला सर्वानुदात्त है और दूसरा उदात्तयुक्त है, किसी सर्वानुदात्त क्रियापद का समास

हो, तो प्रथम सर्वानुदात्त उपसर्ग के बाद अवग्रह लगाते हैं, दूसरा उपसर्ग क्रियापद के साथ अपृथक् रहता है. जैसे—

आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः। (ऋ.सं.पा. ६.४७.३१)

आ। अमूः। अज। प्रतिऽआवर्तय। इमाः। (प.पा.)

अन्वालेभिरे। (ऋ.सं.पा. १०.१३०.७)

अनुऽआलेभिरे। (प.पा.)

(५) एक पद में भी भ्याम्, भिस्, भ्यस् प्रत्ययों को, यदि उनसे पूर्व अङ्ग में कोई परिवर्तन न हुआ हो, तो अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है, जैसे—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। (ऋ.सं.पा.१.१.२)

अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिऽभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। (प.पा.)

याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्। (ऋ.सं.पा. १.३५.३)

याति। शुभ्राभ्याम्। यजतः। हरिऽभ्याम्। (प.पा.)

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

(ऋ.सं.पा.१०.१४.१५)

इदम्। नमः। ऋषिऽभ्यः। पूर्वऽजेभ्यः। पूर्वेभ्यः। पथिकृत्ऽभ्यः।

(प.पा.)

किन्तु यदि, -भ्याम्, -भिस्, -भ्यस् से पूर्व अङ्ग में कोई गुण या वृद्धि-सम्बन्धी विकार होगा तो इनको अवग्रह द्वारा अलग नहीं किया जाता, जैसे—उपर्युक्त उदाहरणों में पूर्वेभिः, शुभ्राभ्याम् तथा पूर्वेभ्यः। यदि भ्याम्, भिस् तथा भ्यस्-युक्त अङ्ग का किसी पूर्वपद के साथ समास हुआ हो, तो समास के पूर्वपद को अवग्रह से अलग करते हैं, जैसे—उपर्युक्त उदाहरण में पूर्वऽजेभ्यः।

(६) एक पद में -सु प्रत्यय को भी, यदि अङ्ग व्यञ्जनान्त हो, तो अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है, जैसे—

अप्सु मे सोमो अब्रवीत्। (ऋ.सं.पा. १.२३.२०)

अप्ऽसु। मे। सोमः। अब्रवीत्। (प.पा.)

अङ्ग यदि अजन्त हुआ तो -सु को अवग्रह द्वारा अलग नहीं किया जाता, जैसे —

स इद्देवेषु गच्छति (ऋ.सं.पा. १.१.४)

सः । इत् । देवेषु । गच्छति । (प.पा.)

(७) त्व, तरप् तथा तमप् प्रत्ययों को अङ्ग से अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है, जैसे—

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम् । (ऋ.सं.पा. १.११५.४)

तत् । सूर्यस्य । देवऽत्वम् । तत् । महिऽत्वम् । (प.पा.)

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम् । (ऋ.सं.पा.१.३२.५)

अहन् । वृत्रम् । वृत्रऽतरम् । विऽअंसम् । (प.पा.)

उदुत्तमं मुमुग्धि नः (ऋ.सं.पा. १.२५.२१)

उत् । उत्ऽतमम् । मुमुग्धि । नः । (प.पा.)

कहीं-कहीं दो से अधिक पदों का समास होने पर तरप्, तमप् प्रत्ययों से पूर्व अवग्रह न लगाकर उनसे पूर्ववर्ती पद से पूर्व अवग्रह लगाते हैं, जैसे—

होतारं रत्नधातमम् । (ऋ.सं.पा. १.१.१)

होतारम् । रत्नऽधातमम् । (प.पा.)

(८) वतुप् और मतुप् प्रत्ययों से युक्त पदों में अङ्ग और प्रत्यय के बीच अवग्रह लगाया जाता है, यदि अङ्ग स्-व्यञ्जनान्त न हो, जैसे—

अश्वावतीर्गोमतीर्विश्ववसुविदः (ऋ.सं.पा.१.४८.२)

अश्वऽवतीः । गोऽमतीः । विश्वऽसुविदः । (प.पा.)

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः । (ऋ.सं.पा.१०.७१.७)

अक्षण्ऽवन्तः । कर्णऽवन्तः । सखायः । (प.पा.)

स्-व्यञ्जनान्त अङ्ग होने पर अवग्रह नहीं लगता, जैसे—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् । (ऋ.सं.पा. २.१२.१)

यः । जातः । एव । प्रथमः । मनस्वान् । (प.पा.)

(९) क्वसु-प्रत्ययान्त पद में प्रत्यय और अङ्ग के बीच अवग्रह लगाया जाता है, यदि अङ्ग व्यञ्जनान्त न हो, जैसे—
अस्मिन्पदे परमे तस्थिवांसम् । (ऋ.सं.पा. २.३५.१४)
अस्मिन् । पदे । परमे । तस्थिऽवांसम् । (प.पा.)
अङ्ग व्यञ्जनान्त होने पर अवग्रह नहीं लगता, जैसे—
वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार (ऋ.सं.पा. १.३२.११)
वृत्रम् । जघन्वान् । अप । तत् । ववार । (प.पा.)

(१०) अजन्त अङ्ग को, जिनके साथ क्यच्, क्यङ्, क्यष् (य) आदि प्रत्यय लगाकर नामधातुयें बनायी जाती हैं, अवग्रह द्वारा प्रत्यय से अलग कर दिया जाता है, जैसे—
वृषायमाणोऽवृणीत सोमम् । (ऋ.सं.पा. १.३२.३)
वृषऽयमाणः । अवृणीत । सोमम् । (प.पा.)
अङ्ग व्यञ्जनान्त होने पर अवग्रह नहीं लगता, जैसे—
समुद्रे न श्रवस्यवः (ऋ.सं.पा. १.४८.३)
समुद्रे । न । श्रवस्यवः । (प.पा.)
अदेवेन मनसा यो रिपण्यति । (ऋ.सं.पा. २.२३.१२)
अदेवेन । मनसा । यः । रिपण्यति । (प.पा.)

(११) इव के साथ नित्य समास में पूर्वपद और इव के बीच अवग्रह लगाया जाता है, जैसे—
न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा । (ऋ.सं.पा.१.१४३.५)
न । यः । वराय । मरुताम्ऽइव । स्वनः । सेनाऽइव । सृष्टा । (प.पा)

(१२) सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त त्रा प्रत्यय को अङ्ग से अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है, जैसे—
वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् । (ऋ.सं.पा. १.७०.५)
वि । त्वा । नरः । पुरुऽत्रा । सपर्यन् । (प.पा)
देवं देवत्रा सूर्यम् (ऋ.सं.पा.१.५०.१०)
देवम् । देवऽत्रा । सूर्यम् । (प.पा.)

विशेष—अवग्रह का प्रयोग पद के मूल स्वरूप को दिखाने के लिये ही किया जाता है। जहां पर पद का स्वरूप स्पष्ट नहीं है, अथवा पूर्वपद या उत्तरपद में ऐसा कोई पद है जिसका स्वतन्त्र रूप से कभी प्रयोग नहीं होता, वहां पदपाठकारों ने अवग्रह का प्रयोग नहीं किया है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक पद मिलते हैं। उदाहरण के लिये रि॒शाद॑सम्, सू॒नृता॑, सू॒नरी॑, ऋ॒त्विज॑म्, आदि पदों को उद्धृत किया जा सकता है।

३. इतिकरण-सम्बन्धी नियम

प्रगृह्य तथा रिफित पदों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये पद के साथ इतिकरण का प्रयोग किया जाता है। प्रातिशाख्यों में इतिकरणयुक्त पद की उपस्थित संज्ञा है।[1]

क. प्रगृह्य पदों के साथ—

(१) ई, ऊ तथा ए में अन्त होने वाले द्विवचनान्त पद के साथ,[2] जैसे—

प्र पर्व॑तानामुश॒ती उ॒पस्था॑त्। (ऋ.सं.पा. ३.३३.१)

प्र। पर्व॑तानाम्। उ॒श॒ती इति॑। उ॒पस्था॑त्। (प.पा.)

गावे॑व शु॒भ्रे मा॒तरा॑ रिहा॒णे। (ऋ.सं.पा.३.३३.१)

गावा॑ऽइव। शु॒भ्रे इति॑। मा॒तरा॑। रि॒हा॒णे इति॑। (प.पा)

वृष॑णाध्व॒र्यू वृ॒ष॒भासो॒ अद्र॑यः। (ऋ.सं.पा. २.१६.५)

वृष॑णा। अ॒ध्व॒र्यू इति॑। वृ॒ष॒भास॑ः। अद्र॑यः। (प.पा.)

(२) सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई तथा ऊ में अन्त होने वाले पदों के साथ,[3] जैसे—

दृति॒ं न शुष्क॑ं सर॒सी शया॑नम् (ऋ.सं.पा.७.१०३.२)

---

१. यदेतिकारान्तमुपस्थितं तथा। ऋ. प्रा. ११.२६।
उपस्थितं सेतिकरणम्। ऋ. प्रा. १०.१२।

२. षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः। ऋ. प्रा. १.७१।
ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा. १.१.११।

३. साप्तमिकौ च पूर्वौ। ऋ.प्रा.१.७२। ईदूतौ सप्तम्यर्थे। पा.१.१.१९।

हरितम् । न । शुष्कम् । सरसी इति । शयानम् । (प.पा.)
स्वायौ तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् । (ऋ.सं.पा.१०.१८३.२)
स्वायाम् । तनू इति । ऋत्व्ये । नाधमानाम् । (प.पा.)

(३) अस्मे, युष्मे, त्वे तथा अमी पदों के साथ,[1] जैसे—
अस्मे पृथु श्रवो बृहत् । (ऋ. सं. पा. १.९.७) ।
अस्मे इति । पृथु । श्रवः । बृहत् । (प.पा) ।
देवेषु युष्मे (ऋ. सं. पा. ४.१०.८) ।
देवेषु । युष्मे इति (प. पा.) ।
विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे (ऋ. सं. पा. १.४८.१० ।
विश्वस्य । हि । प्राणनम् । जीवनम् । त्वे इति (प. पा.) ।
वयश्चनामी पतयन्त आयुः । (ऋ.सं.पा.१.२४.५)
वयः । चन । अमी इति । पतयन्त । आयुः । (प.पा)

विशेष—त्वे उदात्तयुक्त तथा किसी समास का अङ्ग न होने पर ही प्रगृह्य होता है । अनुदात्त तथा समास का अङ्ग होने पर प्रगृह्य नहीं होता ।[2] अतएव यहां इतिकरण नहीं किया जाता, जैसे—

ओहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे । (ऋ. सं. पा. १०.७१.८)
ओहऽब्रह्माणः । वि । चरन्ति । ऊँ इति । त्वे । (प.पा.) ।

(४) एकाक्षर प्रगृह्यपद ओ[3] के साथ, जैसे—ओ हि वर्तन्ते (ऋ. सं. पा. १०.११७.५) । ओ इति । हि । वर्तन्ते । (प. पा.) ।

(५) अकारान्त तथा आकारान्त निपात एवं सर्वनाम पदों के साथ जब उ की संधि होती है,[4] तो उन संधिज—अथो, मो, नो, क्वो

---

१. अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः । ऋ. प्रा. १.७३ ।
२. उपोत्तम नानुदात्तं न पद्यम् । ऋ. प्रा.१.७४ ।
३. पदं चान्यः । ऋ. प्रा.१.६९ ।
४. अपूर्वपदान्तगश्च । ऋ. प्रा. १. ७० ।

प्रो आदि पदों के साथ, जैसे—अथो इति, मो इति, नो इति, प्रो इति, वयो, उ इति, पुषो इति, यो इति, इत्यादि।

(६) उ को दीर्घ तथा अनुस्वारयुक्त करके इसके साथ इतिकरण होता है,[1] जैसे—अर्वर्षीवृषभंमुद्रु सु गृभाय (ऋ. सं.पा.५.८३.१०)। अर्वर्षीः। वृषभम्। उत्। ऊँ इति। सु। गृभाय। (प. पा.)।

(७) ओकारान्त सम्बोधन पद[2] के साथ जैसे—
वायो तव प्रपृञ्चती (ऋ. सं. पा. १.२.३)।
वायो इति। तव। प्रपृञ्चती। (प. पा.)।

विशेष—(१) से लेकर (५) तक जिन पदों के साथ इतिकरण के प्रयोग का उल्लेख किया गया है, वे संहितापाठ और पदपाठ दोनों में प्रगृह्य होते हैं। किन्तु (६) और (७) में जिन पदों के साथ इतिकरण का उल्लेख किया गया है, वे संहितापाठ में प्रगृह्य नहीं होते, पदपाठ में ही प्रगृह्य होते हैं। इसलिये संहितापाठ में इन पदों के पदान्तीय स्वरों के साथ उत्तरपदादि स्वर की संधि को देखकर इतिकरण के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

ख. रिफित विसर्जनीयान्त पद के साथ—

रिफित विसर्जनीयान्त पद[3] का रेफ यदि संहितापाठ में स्पष्ट रूप से दिखाई न पड़ता हो, तो उसको स्पष्ट करने के लिए पदपाठ में उसके आगे इतिकरण किया जाता है, जैसे—
ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो (ऋ. सं. पा. १.३५.११)।
ये। ते। पन्थाः। सवितरिति। पूर्व्यासः। (प. पा.)।

---

१. उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन। ऋ. प्रा. १.७५।

२. ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः। ऋ. प्रा. १.७५।

३. ऋ. प्रा.१.७७-१०३ में रिफित विसर्जनीयान्त पदों की गणना की गई है।

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति । (ऋ. सं. पा. १.१२५.१) ।
प्रातरिति । रत्नम् । प्रातःऽइत्वा । दधाति । (प. पा) ।

४. परिग्रह-सम्बन्धी नियम

सामान्य पद का संधिविच्छेद करके उसको प्रकृति रूप में रखना स्थित कहलाता है ।[1] जब कोई पद इतिकरण से युक्त होता है, तो उसकी उपस्थित संज्ञा होती है । ऐसे उपस्थित संज्ञक पदों के इतिकरण के बाद जब स्थित पद की पुनः आवृत्ति की जाती है, तो उन सभी पदों की स्थितोपस्थित संज्ञा होती है ।[2] इसी का परिग्रह के नाम से भी उल्लेख मिलता है । इसका प्रयोजन पद के प्रकृति रूप को स्पष्ट करना है । जिस पद का स्वरूप स्थित और उपस्थित में भी स्पष्ट नहीं होता उसका रूप स्थितोपस्थित द्वारा स्पष्ट किया जाता है ।[3] पदपाठ और क्रमपाठ दोनों में परिग्रह का रूप मिलता है, किन्तु ऋग्वेद के पदपाठान्तर्गत स्थितोपस्थित का नियम उसके क्रमपाठान्तर्गत स्थितोपस्थित के नियम से भिन्न है । ऋग्वेद के पदपाठ में जहां स्थितोपस्थित होता है, क्रमपाठ में भी वहां होता है, किन्तु क्रमपाठ में जहां वह होता है वह पदपाठ में वहां सर्वत्र नहीं होता । 'वाजसनेयि-संहिता', 'तैत्तिरीय-संहिता' तथा 'सामवेद-संहिता' के जो पदपाठ मिलते हैं, उनमें परिग्रह का रूप क्रमपाठ के परिग्रह के समान ही है । क्रमपाठान्तर्गत परिग्रह के नियमों का उल्लेख क्रमपाठ के प्रकरण में किया जायेगा । यहां हम ऋग्वेद के पदपाठान्तर्गत परिग्रह के ही नियमों का विवेचन करते हैं ।

---

१. केवलं तु पदं स्थितम् । ऋ. प्रा. १०.१३ ।
पदं यदा केवलमाह सा स्थितिः । ऋ. प्रा. ११.२८ ।
२. तत्स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते । ऋ. प्रा. १०.१४ ।
३. स्थितिस्थितोपस्थितयोश्च दृश्यते पदं यथावद्व्ययवद्युपस्थिते ।
क्वचित्स्थितौ चैवमतोऽधि शाकलाः क्रमे स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत ॥
ऋ. प्रा. ११.६१ ।

ऋग्वेद-संहिता का पदपाठ करते समय परिग्रह सम्बन्धी उत्तरोक्त नियमों को ध्यान में रखना चाहिये—

(१) प्रगृह्यसंज्ञक स्वरों में अन्त होने वाले समास पद के प्रगृह्यत्व को इतिकरण द्वारा दिखाने के वाद समास पद की पुनः आवृत्ति की जाती है, और इस आवृत्त पद में ही समास के दोनों पदों के बीच अवग्रह का प्रयोग किया जाता है,[1] जैसे—

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। (ऋ.सं.पा. २.१२.८)

यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते।

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे (ऋ.सं.पा. ३.३३.२)

इन्द्रेषिते इतीन्द्रंऽइषिते। प्रऽसवन्। भिक्षमाणे इति। (प.पा.)

अपवाद—देवताद्वन्द्व समास तथा नञ्समास पद की प्रगृह्यान्त होने पर भी इतिकरण के वाद पुनः आवृत्ति नहीं की जाती, क्योंकि पदपाठ में स्थित(इतिकरण रहित) अवस्था में अवग्रह का प्रयोग नहीं होता, जैसे—

इन्द्रवायू इमे सुताः। (ऋ.सं.पा.१.२.४)

इन्द्रवायू इति। इमे। सुताः। (प.पा.)

समानबन्धू अमृते अनूची। (ऋ.सं.पा. १.११३.२)

समानबन्धू इति समानऽबन्धू। अमृते इति। अनूची इति। (प.पा.)

(२) प्रगृह्यान्त पद के साथ इव का नित्य समास होने पर पूर्वपदान्त को ही समास का पदान्त माना जाता है। किन्तु इतिकरण इव पद के वाद किया जाता है, और पुनः समास पद की आवृत्ति की जाती है। आवृत्त पद में इव को पूर्वपद से अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है। चूंकि इव का पदान्तीय वर्ण प्रगृह्य नहीं होता, इसलिये इति के पदादि इ के साथ उसकी गुणसंधि हो जाती है, और यदि समास पद किसी अक्षर से शुरू होने वाला है तो इति के पदान्तीय इ के साथ उसकी भी संधि हो जाती है, जैसे—

अश्वेइव विषिते हासमाने (ऋ.सं.पा. ३.३३.१)

---

१. समासांस्तु पुनर्वजन् इत्कुर्यात्। ऋ. प्रा. १०.१६।

अश्वैं इवेत्प्रवेंऽइव । विपिते इति विऽसिते । हासमाने इति । (प.पा.)

(३) रिफित विसर्जनीयान्त किसी क्रियापद का रेफ संहितापाठ में यदि स्पष्ट न हो और उसका किसी नामपद के साथ संदेह होने की सम्भावना हो, तो उस रेफ को स्पष्ट करने के लिये पदपाठ में क्रियापद के पश्चात् इतिकरण किया जाता है और उसके आख्यातत्व को दिखाने के लिये इतिकरण के बाद पुनः उस क्रियापद की आवृत्ति की जाती है, जैसे—

यो दासं वर्णमधरं गुहाकः (ऋ.सं.पा. २.१२.४)

यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा । अकुरित्यकः । (प.पा.)

मा नो नि कः । (ऋ.सं.पा. ३.३३.८)

मा । नः । नि । करिति कः । (प.पा.)

विशेष—किम् सर्वनाम शब्द का पु. प्र. ए. में कः पद बनता है । √कृ का भी लुङ् में अकः तथा अट् के अभाव में कः रूप बनता है । अकः या कः क्रियापद है, नामपद नहीं; इसको स्पष्ट करने के लिए इनकी आवृत्ति की गई है । यदि किसी नामपद के साथ रूपसाम्य का सन्देह न हो, तो केवल रेफ को स्पष्ट करने के लिये ऊपर बताये गये नियम (२)ख के अनुसार केवल इतिकरण होगा, इतिकरण के बाद क्रियापद की आवृत्ति नहीं की जायेगी, जैसे—

किमावरीवः । (ऋ.सं.पा. १०.१२९.१)

किम् । आ । अवरीवरिति । (प.पा.)

(४) स्वः पद जात्य स्वरित होने पर रिफित संज्ञक होता है ।[1] संहितापाठ में यदि उसका रेफ स्पष्ट न हो तो उसे स्पष्ट करने के लिये पदपाठ में उसके पश्चात् इतिकरण किया जाता है और इतिकरण के बाद पुनः स्वः पद की आवृत्ति की जाती है ।

विशेष—इतिकरण के साथ परवर्ती आवृत्त पद संहितवत् होते

---

१. स्वः स्वरितम् । ऋ. प्रा. १.९९ ।

हैं, किन्तु स्वः पद इति के साथ संहितवत् नहीं होता।[1] दोनों के बीच एक मात्राकाल का व्यवधान होता है। इसीलिए स्वः के रेफ को दिखाने के लिए प्रयुक्त इतिकरण के बाद व्यवधान को दिखाने के लिए पुनः स्वः पद की आवृत्ति की जाती है।

(५) किसी भी पद के स्वरूप के विषय में थोड़ा भी सन्देह होने की सम्भावना हो, वहां पद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए, इतिकरण का अवसर न होने पर भी, पद के बाद इतिकरण करके उसके बाद पद की आवृत्ति की जाती हैं, जैसे—

मर्यायेव कुन्या शश्वचै ते। (ऋ. सं. पा. ३.३३.१०)।

मर्यायऽइव। कुन्या। शश्वचै। तु इति ते। (प. पा.)।

उपर्युक्त उदाहरण में ते पद के बाद इतिकरण करके पुनः पद की आवृत्ति की गई है। यहां ते के विषय में यह संदेह हो सकता है कि यह शश्वचै का ही भाग है अथवा स्वतन्त्र पद। इस संदेह के निवारण के लिए ही इतिकरण के बाद इसकी आवृति की गई है।

स्वर सम्बन्धी नियम

संहितापाठ में पाद या अर्द्धर्च का एक प्रयत्न में उच्चारण करने के कारण पादगत पदों के पदान्तीय एवं पदादि वर्णों के स्वरूप में जहां विकृति आती है, वहां पदान्तीय एवं पदादि वर्णों के स्वर-धर्मों में भी विकृति आ जाती है। संहितापाठ में होने वाले स्वर-परिवर्तन को सांहितिक स्वर-धर्म की संज्ञा दी जाती है। उदात्त

---

१. इतिपूर्वेषु संधानं पूर्वैः स्वः स्यादसंहितम्।
तदवग्रहवद् ब्रूयात्॥ ऋ. प्रा. १०.१७।
स्वरित्यतोऽन्येषु च संधिमाचरेत्।
अवग्रहस्येव हि कालधारणा
परिग्रहेऽस्तीत्युपधेत्यनुस्मृता॥ ऋ.प्रा. ११.३२।

के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, यदि उसके परे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो। यह नियम सांहितिक स्वर-धर्म का मूल मन्त्र है। संहितापाठ में एक पाद या अर्द्धर्च स्वर की दृष्टि से एक इकाई होता है। किन्तु पदपाठ में पद इकाई होता है। इनका पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये पदपाठ में पद को उसके अपने मूल स्वर में उपस्थित किया जाता है। संहितापाठ से पदपाठ करते समय इन स्वरों में से कुछ ज्यों के त्यों रह जाते हैं और कुछ परिवर्तित हो जाते हैं। पदपाठ में जिन पदों के आगे इतिकरण होता है तथा जिन पदों में इतिकरण के बाद पद की आवृत्ति की जाती है, उनमें भी स्वर का प्रयोग करना होता है। पदपाठ के स्वर-संबन्धी नियमों को तीन वर्गों में रखकर हम उनका विवेचन करेंगे।

१. सामान्य पदों का स्वर-नियम

क. वे स्वर जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता—

(१) संहितापाठ में उदात्त और जात्य स्वरित जिस वर्ण पर होते हैं, पदपाठ में भी वे उसी वर्ण पर होते हैं। उनके स्थान तथा धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि। (ऋ.सं.पा. १.१५४.१)

विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि (प.पा.)

(२) एक ही पद में उदात्त तथा जात्य स्वरित से पूर्व आने वाले अनुदात्त के स्थान तथा धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे—

द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति। (ऋ.सं.पा. १.९६.५)

द्यावाक्षामा। रुक्मः। अन्तः। वि। भाति। (प.पा.)

वीर्याणि। (ऋ.सं.पा. १.१५४.१)

वीर्याणि। (प.पा.)

(३) एक ही पद में उदात्त के बाद आने वाले स्वरित का परिवर्तन नहीं होता, जैसे—

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम् (ऋ.सं.पा. २.१२.११)

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । (प.पा.)

(४) एक ही पद में उदात्तपूर्व स्वरित या जात्य स्वरित के बाद आने वाले प्रचय का परिवर्तन नहीं होता, जैसे—

पर्वतेषु (ऋ.सं.पा. २.१२.११) ।

पर्वतेषु (प.पा.) ।

मादयस्व स्वर्णरे (ऋ.सं.पा. ८.१०३.१४) ।

मादयस्व । स्वर्णरे । (प.पा.) ।

ख. वे स्वर जिनमें परिवर्तन होता है।

(१) एक ही पद में उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जाता है, जैसे—

उपो वाजं हि वंस्व । (ऋ. सं. पा. १.४८.११) ।

उपः । वाजम् । हि । वंस्व । (प. पा.) ।

(२) एक ही पद में सामान्य स्वरित अथवा जात्य स्वरित के बाद आने वाला अनुदात्त प्रचय में बदल जाता है, जैसे—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ. सं. पा. १.३२.१)। इन्द्रस्य । नु । वीर्याणि । प्र । वोचम् । (प.पा) ।

(३) एक ही पद में उदात्तपर अनुदात्त से पूर्ववर्ती सभी प्रचय, चाहे एक हो, या अनेक हों, अनुदात्त में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे—

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने (ऋ. सं. पा.१.११६.५) ।

अनारम्भणे । तत् । अवीरयेथाम् । अनास्थाने । (प.पा.) ।

(४) संहितापाठ में जिस पद में कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो, उसको पदपाठ में अनुदात्त के चिह्न से अंकित किया जाता है। द्वितीय अध्याय में जिन सर्वानुदात्त पदों का उल्लेख किया गया है उनको पदपाठ में अनुदात्त के चिह्न से अंकित किया जाता है, जैसे—

अनारम्भणे तदवीरयेथाम्। (ऋ. सं. १.११६.५) ।

अनारम्भणे । तत् । अवीरयेथाम् (प. पा.).।

(६) कम्प स्वर के लिए जो १ या ३ के चिह्न होते हैं, वे पदपाठ में समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि संधि-विच्छेद हो जाने से परवर्ती उदात्त-युक्त पद अलग हो जाता है। ऐसी अवस्था में, यदि कम्प जात्य स्वरित पर है तो उसको जात्य स्वरित के चिह्न, अर्थात् वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, जैसे—वरुंगः पुरस्त्या ३ स्वा (ऋ.सं. पा. १.२५.१०)। वरुंगः। पुरस्त्यासु। आ। (प. पा.)।

किन्तु यदि कम्प अभिनिहित, क्षैप्र या प्रश्लिष्ट स्वरित पर है, तो पूर्वपदान्तीय वर्ण उदात्त होता है, इसलिए उसे अचिह्नित छोड़ देते हैं, और परवर्ती पदादि वर्ण अनुदात्त होता है, इसलिऐ उसे वर्ण के नीचे अनुदात्त के चिह्न से अङ्कित करते हैं, जैसे—

अप्स्व १ न्तरमृतम्। (ऋ. सं. पा. १.२३.१९)।

अप्सु। अन्तः। अमृतम्। (प. पा.)।

(७) जब पदों का संधि-विच्छेद होता है तो दो स्वरों की संधि से उत्पन्न संधिज स्वर अपने पदान्तीय तथा पदादि वर्ण के मूल स्वर के रूप में आ जाते हैं। पदपाठ करते समय 'संधि-स्वर-प्रकरण' में बताये गए नियमों का पालन करना चाहिए।

यदि कोई संधिज स्वर उदात्त है तो यह कैसे समझेंगे कि पूर्वपदान्तीय वर्ण उदात्त है और उत्तरपदादि अनुदात्त, या पूर्वपदान्तीय अनुदात्त है और उत्तरपदादि उदात्त, या पदान्तीय और पदादि दोनों उदात्त हैं। इसके लिये स्वर के सामान्य नियमों के साथ-साथ उत्तरोक्त बातों को ध्यान में रखना चाहिये—

क. प्रत्येक पद में प्रायः एक उदात्त होता है। इसलिये यह देखना चाहिये कि संधि-विच्छेद से पहले पूर्वपद या उत्तरपद में कोई उदात्त है या नहीं। यदि पूर्वपद में कोई उदात्त हो तो उस उदात्त संध्यक्षर में पदान्तीय वर्ण को अनुदात्त समझना चाहिये, जो पदपाठ में पद को अलग करने पर स्वरित या प्रचय में बदल जायेगा। यदि उस संधिज उदात्त के ठीक पूर्व उदात्त होगा तो पदान्तीय वर्ण स्वरित के चिह्न से अंकित

होगा, और यदि अनुदात्त के बाद होगा तो वह प्रचय होगा। अतएव वह अचिह्नित रहेगा। जब यह निश्चय हो गया कि पूर्वपदान्तीय मूलतः अनुदात्त तथा वर्णसंहिता की दृष्टि से स्वरित या प्रचय है तो उत्तरपदादि निश्चित रूप से उदात्त होगा, जैसे—न ये वार्तस्य प्रमिनन्त्यम्वम् (ऋ.सं.पा. १.२४.६)। न। ये। वार्तस्य। प्रऽमिनन्ति। अम्वम्। (प.पा)। ये नाकस्याधि रोचने (ऋ.सं.पा.१.१९.६)। ये। नाकस्य। अधि। रोचने (प.पा.)।

यदि संधिज उदात्त के बाद उत्तरपद में कोई दूसरा उदात्त हो और पूर्वपद में कोई उदात्त न हो, तो यह समझना चाहिये कि पूर्व-पदान्तीय वर्ण उदात्त है और उत्तरपदादि वर्ण अनुदात्त, जैसे—उताकृवस्य (ऋ. सं. पा. १.८५.५)। उत। अनुवस्य। (प.पा)।

यदि संधिज उदात्तसे पूर्व पद में कोई उदात्त न हो और पश्चात् भी उस पद में कोई उदात्त न हो, तो यह समझना चाहिये कि पदान्तीय और पदादि दोनों वर्ण उदात्त हैं, जैसे—

ह्यस्थादुपस्थम् (ऋ.सं.पा.२.३५.९)।
हि। अस्थात्। उपऽस्थम् (प.पा.)।
मित्रावरुणाविहावसे (ऋ.सं.पा.१.३५.१.)।
मित्रावरुणौ। इह। अवसे। (प.पा)।

ख. कुछ पद हमेशा या अवस्था-विशेष में सर्वानुदात्त होते हैं। इस-लिये पदपाठ करते समय यह देखना चाहिये कि संधिज उदात्त उसी पद का तो अंश नहीं है जो सर्वानुदात्त है। यदि पूर्ववर्ती सर्वानुदात्त पद का अंश है, तो पूर्वपदान्तीय स्वर अनुदात्त होगा और उत्तरपदादि उदात्त; यदि उत्तरवर्ती सर्वानुदात्त पद का अंश है तो उत्तरपदादि वर्ण अनुदात्त होगा, पूर्वपदान्तीय उदात्त, जैसे—

यदिन्द्राहन् (ऋ.सं.पा.१.३२.४)।
यत्। इन्द्र। अहन्। (प.पा.)।
वाश्रेव विद्युन्मिमाति। (ऋ.सं.पा.१.३८.८)।

वा॒भ्राऽइ॑व । वि॒द्युत् । मि॒माति॑ । (प.पा.) ।

अहे॑ळमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शंस॒ (ऋ.संपा. १.२४.११) ।

अहे॑ळमानः । व॒रु॒ण॒ । इ॒ह । बो॒धि॒ । उरु॑ऽशंस । (प.पा.) ।

(८) कुछ पद ऐसे हैं जिनमें एक से अधिक उदात्त होते हैं । इसलिये ऐसे पदों में दो उदात्त को देखकर उनको दो पद मानकर अलग-२ नहीं कर देना चाहिये । उनको एक ही पद मानकर स्वराङ्कन करना चाहिये, और पद के मध्य में संहिता-स्वर का पालन करना चाहिये, जैसे—

अर्कुर्धन्वा॒न्यत्ये॑तवा उं । (ऋ.सं.पा. ५.८३.१०) ।

अर्कः । धन्वा॑नि । अति॑ऽए॒त॒वै । ऊँ॒ इति॑ । (प.पा) ।

२. अवगृह्य पदों का स्वर-नियम

(१) अवग्रह को भी विराम माना जाता है । जिन पदों के बीच अवग्रह लगता है, उन दोनों पदों के बीच एक मात्राकाल के लिये रुकना पड़ता है । इस मात्राकाल-व्यवधान के कारण पूर्वपद को उत्तरपद से अलग समझा जाता है । किन्तु एकोदात्त पदों में स्वर की दृष्टि से इस व्यवधान को व्यवधान नहीं समझा जाता । जिस प्रकार व्यञ्जन तथा विवृत्ति के व्यवधान में भी सांहितिक स्वर होता है, उसी प्रकार अवग्रह के व्यवधान में भी सांहितिक सामान्य पदस्वर-नियम लागू होता है ।[1] उदाहरण के लिये 'अवग्रह-सम्बन्धी नियम' नामक अधिकरण द्रष्टव्य है ।

(२) यदि अवग्रहयुक्त पद द्व्युदात्त पद है, तो उत्तरपद को असंहितवत् समझा जाता है ।[2] ऐसी परिस्थिति में (क) पूर्वपद यदि आदि या मध्योदात्त है, तो उसका पदान्तीय वर्ण स्वरित या प्रचय हो जायेगा तथा यदि

---

१. यथा संधीयमानानामनेकीभवतां स्वरः ।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे । ऋ.प्रा. ३.२४ ।

२. पद्यादीन्स्तु द्व्युदात्तानामसंहितवदुत्तरान् । ऋ.प्रा.३.२५ ।

अन्तोदात्त है तो वह ज्यों का त्यों रहेगा, (ख) उत्तरपद यदि मध्योदात्त या अन्तोदात्त है, तो उस उदात्त से पूर्ववर्ती वर्ण, चाहे एक हो, या अनेक हों, अनुदात्त द्वारा चिह्नित किये जाते हैं। यदि आद्युदात्त है, तो वह ज्यों का त्यों रह जाता है। जैसे—

ऋतस्य पन्थामन्वेतवा उ (ऋ.सं.पा.७.४४.५)।
ऋतस्य। पन्थाम्। अनुऽएतवै। ऊँ इति। (प.पा)।
नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ (ऋ.सं.पा.१०.१४.२)।
न। एषा। गव्यूतिः। अपऽभर्तवै। ऊँ इति। (प.पा.)।

(३) अवग्रहयुक्त द्व्युदात्त पदों में पूर्वपद में तनू तथा शची पद हों और उसका उत्तरपद आद्युदात्त हो, तो वह संहितवत् ही समझा जाता है। तनू तथा शची का पदान्तीय स्वरित जात्यवत् समझा जाता है,[1] इसलिये पदपाठ में इसके परवर्ती उत्तरपदादि उदात्त के कारण स्वरित को कम्प हो जाता है। यह कम्प चूंकि दीर्घ होता है, इसलिये इसको ३ के अङ्क से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे—

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरः। (ऋ.सं.पा. ३.२९.११)।
तनू ३ ऽनपात्। उच्यते। गर्भः। आसुरः। (प. पा)।
इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिम् (ऋ.सं.पा. १.१०६.६)।
इन्द्रम्। कुत्सः। वृत्रऽहनम्। शची ३ ऽपतिम्। (प.पा)।

किसी-किसी शाखा में इसको भी असंहितवत् मानने का प्रचलन है। असंहितवत् मानने पर तनूऽनपात्, शचीऽपतिम् ये पाठ होंगे।[2]

३. इतिकरणयुक्त पद का स्वर-नियम

जिन पदों के साथ इतिकरण होता है, उन पदों के साथ इति पद संहितवत् हो जाता है, इसलिये यहां संहिता का स्वर-नियम लागू होता है। इति पद आद्युदात्त होता है, इसलिये इससे पूर्व यदि सामान्य स्वरित

---

१. जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनू शचीति पूर्वयोः। ऋ.प्रा. ३.२६।
२. द्र. डा. ब्रजबिहारी चौबे: 'वैदिक-स्वरित-मीमांसा' पृ.५२-४।

था प्रचय हो, तो वह अनुदात्त में परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसको अनुदात्त के चिह्न से अङ्कित किया जाता है। उदाहरण के लिये 'इतिकरण-सम्बन्धी नियम' नामक अधिकरण द्रष्टव्य है।

४. परिग्रह का स्वर-नियम

(१) 'ऋग्वेद-संहिता' के पदपाठ में इति के बाद जब प्रगृह्य-स्वरान्त समस्त पद की आवृत्ति की जाती है, तो इति के बाद आने वाले समस्तपद का पूर्वपद अवग्रह के व्यवधान में भी स्वर की दृष्टि से उत्तरपद के साथ संहितवत् समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में—(क) यदि पूर्वपद अन्तोदात्त है, तो उत्तरपद का पदादि वर्ण सांहितिक स्वर-नियम के अनुसार स्वरित हो जायेगा, और यदि आद्युदात्त या मध्योदात्त है, तो पूरा उत्तरपद प्रचय हो जायेगा, जैसे—

विष्कंभिते। विष्कंभिते इति विऽस्कंभिते। (ऋ.प.पा. ६.७०.१)।
इन्द्रेषिते (ऋ.सं.पा. ३.३३.२)। इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते। (प.पा.)।

(ख) यदि उत्तरपद उदात्त है तो पूर्वपद सर्वानुदात्त हो जाता है,[1] जैसे—विह्वयेते (ऋ. सं. प. २.१२.८)। विह्वयेते इति विऽह्वयेते (प.पा.)। समीचीने। समीचीने इति समऽअचीने (ऋ. प. पा. १०.४४.८)

(२) इव के साथ यदि प्रगृह्यान्त पद का नित्य समास है, तो इव के पदान्तीय अनुदात्त-धर्मवान् अच् के साथ आद्युदात्त इति पद के इ की संधि में संधिज स्वर उदात्त होता है। इसी प्रकार यदि समस्तपद अजादि है, तो उसकी भी इति के पदान्तीय अनुदात्त-धर्मवान् इ (ति) के साथ संधि हो जाती है, और संधिज स्वर 'संधि-स्वर-प्रकरण' में बताये गये स्वर-नियम के अनुसार होता है, जैसे—अश्वेइव। अश्वेइवेत्यश्वेऽइव (ऋ.प.पा. ३.३३.१)।

---

१. परिग्रहे त्वनार्षान्तात्तेन वैकाक्षरीकृतात्।
परेषां न्यासमाचारं व्याडिस्तौ चेत्स्वरौ परौ॥ ऋ.प्रा. ३.२३।

(३) स्वः पद के बाद जब इतिकरण होता है तो उसके पश्चात् पुनः स्वः पद की आवृत्ति की जाती है। इस स्वः का स्वर जात्यस्वरित होता है। इति पद के आद्युदात्त होने के कारण यहां पदपाठ में कम्प हो जाता है, जिसे यहां १ के द्वारा दर्शाया जाता है। जब इति के बाद स्वः पद की आवृत्ति की जाती हैं तो स्वः पद इति के साथ संहितवत् नहीं समझा जाता इसलिये यहां स्वः से पूर्व इति का अन्तिम स्वरित पदपाठ में ज्यों का त्यों रह जाता है, जैसे—स्व १ रिति स्वः (ऋ.प.पा.१.५२.१२)।

(४) रिफित विसर्जनीयान्त क्रियापद के साथ लगे हुये इतिकरण के बाद जब क्रियापद की आवृत्ति की जाती है, तो इति के साथ आवृत्तपद संहितवत् होता है, जैसे—अकुरित्यकः (ऋ. प. पा. २.१२.४)।



दशम अध्याय

क्रमपाठ-प्रकरण

मन्त्रगत पदों के स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न संहिताओं के पदपाठों की रचना की थी। इन पदपाठों द्वारा पद का स्वरूप तो ज्ञात हुआ, किन्तु संहितापाठ का रूप इनमें लुप्त हो गया। पद का मूल स्वरूप भी स्पष्ट हो जाय और साथ ही संहितापाठ का स्वरूप भी बना रहे, इस अभिप्राय से प्राचीन आचार्यों ने संहिताओं के क्रमपाठों की भी रचना की। कात्यायन ने 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य' में स्मृति को ही क्रम का प्रयोजन बताया है।[1] संहितापाठ और पदपाठ दोनों का स्मरण होता रहे, यही क्रमपाठ का प्रयोजन है। सभी वेदों के क्रमपाठ रचे गए होंगे, किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। बहुत से क्रमपाठकारों का नाम भी ज्ञात नहीं। ऋग्वेद के क्रमपाठकार गार्ग्य के विषय में ही जानकारी है। प्रातिशाख्यों में कई क्रमपाठकारों के मत का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के क्रमपाठ के रचयिता गार्ग्य थे। आचार्य शौनक ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में क्रमपाठ की परिभाषा करते हुये लिखा है कि एक ही समय आर्ष-संहिता का बिना लोप किये हुये पदों के स्वरूप को जिसमें स्पष्ट किया जाय वह क्रमपाठ है।[2] वस्तुतः, क्रमपाठ संहितापाठ और पदपाठ का मिश्रण है।[3]

---

१. क्रमः स्मृतिप्रयोजनः। वा. प्रा. ४.१८।

२. अथार्ष्यलोपेन यदाह स क्रमः।
समानकालं पदसंहितं द्वयोः॥ ऋ.प्रा.११.१।

३. उभयं व्याप्तमुभयमन्तरेण। ऋ.प्रा.व.वृ.३।

क्रमपाठ में पदपाठ की तरह पदक्रम-सम्बन्धी कुछ नियम हैं, जिनका पालन क्रमपाठ करते समय करना चाहिये। स्वर-सम्बन्धी नियम वही हैं, जो पदपाठ के तथा संहितापाठ के हैं। पदक्रम-सम्बन्धी नियमों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) सामान्य पदक्रम-सम्बन्धी नियम तथा (२) परिग्रह सम्बन्धी नियम।

१. सामान्य पदक्रम सम्बन्धी-नियम

(१) संहितागत दो-दो पदों को एक साथ इस प्रकार पढ़ना कि प्रत्येक पद की दो-दो बार आवृत्ति हो जाय, क्रमपाठ कहलाता है। इसमें पादादि के दो पदों से शुरू करके द्वितीय और तृतीय को, फिर तृतीय और चतुर्थ को अर्द्धर्च तक इसी क्रम से पढ़ा जाता है,[१] जैसे —

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे (ऋ.वे.७.१०२.१)।
पर्जन्याय प्र। प्र गायत। गायत दिवः। दिवस्पुत्राय। पुत्राय मीळ्हुषे मीळ्हुष इति मीळ्हुषे। (ऋ.क्र.)।

कभी-कभी संहिता के स्वरूप को बनाये रखने के लिये दो से अधिक तीन-तीन या चार-चार पदों का भी क्रमवर्ग किया जाता है।[२] किन्तु कुछ आचार्यों का यह मत है कि क्रमवर्ग में दो से अधिक पद नहीं होने चाहिये।[३]

---

१. द्वाभ्यामभिक्रम्य प्रत्यादायोत्तरं तयोः।
उत्तरेणोपसंदध्यात्तथार्धर्चं समापयेत् ॥ ऋ.प्रा.१०.२।
द्वे द्वे पदे संदधात्युत्तरेणोत्तरमाऽवसानादपृक्तवर्जम्। वा.प्रा.४.१८२।

२. अथो बहूनामविलोपकारणः
परैरवस्यन्त्यतिगम्य कानिचित् ॥ ऋ.प्रा. ११.२।
अनन्तरे त्रिक्रमकारणे यदि
त्रिभिश्च गार्ग्यः पुनरेव च त्रिभिः ॥ ऋ.प्रा. ११.१७।
चतुःक्रमस्त्वाचरितोऽत्र शाकलैः। ऋ.प्रा. ११.१९।

३. अलोपभावादपरे बहुक्रमं
प्रतिस्वमार्षीति न कुर्वते क्वचित् ॥ ऋ.प्रा.११.२०।

(२) क्रमपाठ करते समय प्रथम पद का तथा पादावसान वाले पद का दुबारा उच्चारण नहीं करना चाहिये,[1] जैसे— यच्छक्वरीषु। शक्वरीषु बृहता (ऋ.क्र.७.३३.४); अग्ने अच्छ। अच्छा वद (ऋ.क्र.१०.१४१.१)।

(३) क्रमपाठ में कुछ पदों का अतिक्रमण करके अवसान किया जाता है[2]—

(क) क्रमपाठ में एक क्रम-वर्ग में ओकार को छोड़कर आ और उ इन दोनों एकाक्षर पदों का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे— आ मन्द्रम्। मन्द्रमा वरेण्यम्। (ऋ.क्र. ९.६५.२९); उदु त्यम्। ऊँ इति। त्यं जातवेदसम्। (ऋ.क्र. १.५०.१)। ओ का अतिक्रमण नहीं किया जाता, जैसे—अभूवो (ऋ.क्र. १.११३.११)।

(ख) नः पद से पूर्व सु और स्म पदों का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, यदि उनको नति-भाव प्राप्त हो, जैसे—मो षु णः (ऋ.क्र.१.३८.६); आसु ष्मा णः (ऋ.क्र.६.४४.१८)। यदि नति-भाव प्राप्त नहीं होगा तथा इनके परे नः पद नहीं होगा, तो इनका अतिक्रमण करके अवसान नहीं होगा, जैसे—प्र सू न आयुर्जीवसे (ऋ. वे.८.१८.२२); इन्द्र सूरीन् कृणुहि स्मा नो अर्धम् (ऋ.वे.६.४४.१८); मो षु त्वा वाघतश्चन (ऋ.वे. ७.३२.१); त्वं हि ष्मा च्यावयन् (ऋ.वे. ३.३०.४)।

---

१. पूर्वोत्तरकृतं रूपं प्रत्यादानावसानयोः न ब्रूयात्। ऋ.प्रा. १०.५।

२. एकवर्णमनोकारं नते सु स्मेति नःपरे।
पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च॥
ईं लुप्तान्तं प्लुतादीनि स्कम्भनेनेति लुप्तवत्।
इतो षिञ्चतावर्तमः पूर्वे द्वे पदयोर्द्वयोः॥
स्वसारमस्कृतेत्युभे परं वीरास एतन।
अतीत्यैतान्यवस्यन्ति॥ ऋ.प्रा. १०.३।

(ग) पादादि पद के साथ ईम् का मकार लुप्त हो गया हो, तो ई का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे—यमी गर्भम् (ऋ.क्र. ६.१०२.६)। यदि मकार का लोप न हुआ हो, तो उसी के साथ अवसान होता है, जैसे—सर्मी रेभासः (ऋ.वे. ८.९७.११)।

(घ) जिस पद का आदिम वर्ण संहितापाठ में प्लुत हो गया हो, उस पद का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे—योनिंमारैगपं (ऋ.क्र. १.१२४.८); कुरुश्रवंणमावृणि राजानम् (ऋ.क्र. १०.३३.४)।

(ङ) स्कम्भनेन पद का स् यदि लुप्त हो गया हो,तो इसका अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे—चित्कम्भंनेन स्कभीयान् (ऋ.क्र. १०.१११.५)। यदि स् का लोप न हुआ हो तो अतिक्रमण नहीं होता, जैसे—अयं महान् महुता स्कम्भंनेन (ऋ.वे. ६.४७.५)।

(च) इतो षिञ्चत तथा आवर्तमः इन दोनों पदों के प्रथम पद का अतिक्रमण करके अवसान किया जाता है, जैसे—परीतो षिञ्चत (ऋ.क्र. ९.१०७.१); उवा आवर्तमः (ऋ.क्र.१.९२.४)।

(छ) स्वसारमस्कृत इस पदसमूह का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे—निरु स्वसारमस्कृतोषसम् (ऋ.क्र १०.१२७.३)।

(ज) वीरास एतन इस पदसमूह में एतन पद का अतिक्रमण करके अवसान करना चाहिये, जैसे—वीरास एतन मर्यासः (ऋ.क्र. ५.६१.४)।

(४) पाद के प्रथम और अन्तिम पद को छोड़कर शेष पदों को संहिता के समान ही समझना चाहिये,[1] अर्थात् संहिता में जो संधि, स्वर आदि के नियम हैं, उनका पालन करना चाहिये।

(५) क्रमपाठ में दो अर्धर्चों के बीच संधि नहीं होती।[2]

---

१. सर्वमेवान्यथासंहितमाचरेत्। ऋ.प्रा. १०.६।

२. संधिर्नार्धर्चयोर्भवेत्। ऋ.प्रा. १०.१८।

२. क्रमपाठ में परिग्रह-सम्बन्धी नियम

पदपाठ के समान क्रमपाठ में भी परिग्रह होता है। किन्तु पदपाठ में होने वाले परिग्रह के क्षेत्र से क्रमपाठ में होने वाले परिग्रह का क्षेत्र व्यापक है। क्रमपाठ में उत्तरोक्त पदों के साथ परिग्रह होता है[1]—

(क) उन पदों के साथ जिनके पदपाठ में प्रगृह्यत्व को दिखाने के लिए इतिकरण हुआ हो, जैसे—इन्द्राग्नी तपन्ति। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी (ऋ. क्र. ६.५९.८); प्रातरिति प्रातः (ऋ.क्र. ७.४१.१), इत्यादि।

(ख) समास पदों के साथ, जिनके पदपाठ में अवग्रह लगा हो, जैसे—पुरोहितं यज्ञस्य। पुरोहितमिति पुरःऽहितम् (ऋ. क्र. १.१.१), इत्यादि।

(ग) अर्धर्चान्त पद के साथ, जैसे—अर्णाचित्रथावधीः। अवधीरित्यवधीः (ऋ. क्र. ४.३०.१८)।

(घ) दो पदों से अधिक पद वाले क्रमवर्ग में मध्य में जो पद हों, उन पदों के साथ, जैसे—निरु स्वसारमस्कृतोषसम्। ऊँ इत्यूँ। स्वसारमिति स्वसारम्। अकृतेत्यकृत (ऋ. क्र. १०.१२७.३), इत्यादि।

(ङ) जिस पद में सोष्म वर्ण अपने तृतीयभाव में परिवर्तित हो गया हो, उस पद के साथ, जैसे—दृक्षुपः कृष्णजंहसः। धक्षुम इति धक्षुपः (ऋ. क्र. १.१४१.७) इत्यादि।

(च) किसी दूसरे पद के प्रभाव के बिना ही यदि किसी पद में

---

१. अवगृह्याण्यतिक्रम्य सहेतिकरणानि च।
   घक्षिघुक्षिप्रवादौ च विकृतादी प्लुतादि च॥
   अन्तःपदं च येषां स्याद्विकारोऽनन्यकारितः।
   एतानि परिगृह्णीयात्॥ ऋ. प्रा. १०.७।
   सहेतिकाराणि समाससन्तभाग् बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च।
   तृतीयतां गच्छति यस्य सोष्मवानन्ययोगं विकृतं प्लुतादि च।
   प्रतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत्॥ ऋ. प्रा. ११.२५।

विकार हुआ हो तो उस पद के साथ, जैसे—सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम (ऋ. क्र. १.१३७.१)।

(छ) जिस पद का पदादि वर्ण प्लुत हो उस पद के साथ, जैसे—आरैक्पन्थाम्। अरैगित्यरैक् (ऋ. क्र. १.११३.१६)।

(ज) यदि प्रथम क्रमवर्ग के प्रथम पद में कोई ऐसा वर्ण हो, जो स्पष्ट रूप से दिखाई न पड़ता हो, तो उस पद के साथ, जैसे—तन्नः। तदिति तत् (ऋ.क्र. १.१०७.३); तं नः। तमिति तम् (ऋ.क्र. २.३४.७। इस प्रक्रिया को चोदक की संज्ञा दी गई है।[१] यह अनित्य विधि है। कोई-कोई आचार्य इसे नहीं मानते।

(२) समासपदों में इति के बाद जब पद की आवृत्ति की जाती है, तब पदपाठ की तरह आवृत्त पद में अवग्रह लगाया जाता है,[२] जैसे—पुरोजिती वः। पुरोजितीति पुरःऽजिती (ऋ.क्र.१.१०१.१)।

(३) परिग्रह में आवृत्त पद को इति के साथ संहितवत् समझा जाता है, किन्तु स्वः पद इति के साथ संहितवत् नहीं होता, जैसे—स्वरिति स्वः (ऋ.क्र. १.५२.१२)।

(४) परिग्रह में उत्तरोक्त ध्वनियाँ अपने मूल रूप में आ जाती हैं—

---

१. अदृष्टवर्णे प्रथमे चोदकः स्यात्प्रदर्शकः। एतद्दिष्टम्।
ऋ.प्रा. १०.१५।
अदृष्टवर्णे प्रथमे प्रदर्शनं स्मरन्ति तत्त्वग्रनिराह चोदकः।
ऋ. प्रा. ११.२७।

२. समासांस्तु पुनर्वचन इङ्गयेत्। ऋ. प्रा. १०.१६।
पुनर्वचनस्तत्र समासमिङ्गयेत्। ऋ. प्रा. ११.३१।

३. नकारस्योष्मवद्वृत्तं प्लुतोपाचरिते नतिः।
प्रश्लेषश्च प्रगृह्यस्य प्रकृत्या स्युः परिग्रहे॥ ऋ. प्रा. १०.२०।

(क) नकार का संहितापाठ में जो उष्मत्व होता है वह उष्मत्व यहां समाप्त हो जाता है, जैसे—अभीशूँरिव सारथिः। अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव (ऋ.क्र. ६.५७.६); अस्माँ अस्माँ इत्। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान् (ऋ.क्र. ४.३२.४), इत्यादि।

(ख) स्वर का प्लुतत्व समाप्त हो जाता है, जैसे—
मक्षूमक्षू कृणुहि। मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु (ऋ.क्र. ३.३१.२०)।

(ग) प् और क् से पूर्व विसर्जनीय का स् रूप, जैसे—
ज्योतिष्कृदसि। ज्योतिःकृदिति ज्योतिःऽकृत् (ऋ.क्र. १.५०.४)।

(घ) दन्त्य का मूर्धन्यभाव, जैसे—
सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम (ऋ.क्र. १.१३७.१)।

(ङ) प्रगृह्य स्वरों की संधि, जैसे—दंपतीव क्रतुविदा। दंपती इवेति दंपतीऽइव (ऋ.क्र. २.३९.२)।

(१२) संधि के मध्य व्यञ्जन का आगम समाप्त हो जाता है, जैसे—
पुरुश्चन्द्रं यजतम्। पुरुचन्द्रमिति पुरुऽचन्द्रम् (ऋ.क्र.५.८.१)।
वनर्षदो वायवः। वनसद इति वनऽसदः (ऋ.क्र. १०.४६.७)।

(१३) जुघुक्षत, धक्षि तथा धुक्षि इन पदों में घ् तथा ध् ध्वनियां जहां तृतीय भाव को प्राप्त हुई हों, परिग्रह में तृतीय भाव में न रहकर मूल रूप में आ जाती हैं, जैसे—न जुगुक्षतः। जुघुक्षत इति जुघुक्षतः (ऋ.क्र. ८.३१.७); अनु दक्षि। दुक्षि दावने। धक्षीति धक्षि (ऋ.क्र. २.१.१०); दुक्षन्वृधे। धुक्षन्निति धुक्षन् (ऋ.क्र. १.१२१.८)।

(१४) रिफित भाव को प्राप्त विसर्जनीय, वृ तथा स्वधितीव अघोष वर्ण परे होने पर परिग्रह में अपने मूल रूप में आ जाते हैं, जैसे—
स्वर्चक्षा रथिरः। स्वश्चक्षा इति स्वःऽचक्षा (ऋ.क्र.९.९७.४६)।
स्वर्पतिं यत्। स्वः पतिमिति स्वःऽपतिम् (ऋ.क्र. ८.९७.११)।
दूणाशं सख्यम्। दुर्नशमिति दुःऽनशम्। (ऋ.क्र. ६.४५.२६)।
दूळभो रथः। दुर्दभ इति दुःऽदभः (ऋ.क्र. ४.९.८)।
स्वधितीव रीयते। स्वधितिरिवेति स्वधितिःऽइव (ऋ.क्र. ५.७.८)।

विकृति-पाठ

संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ तीनों को प्रकृति पाठ कहा जाता है। इन तीनों के द्वारा संहिता तथा पद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है; पद के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रह जाती। मन्त्रों को अभ्यास के द्वारा सुरक्षित रखने के अभिप्राय से इन प्रकृति पाठों के ऊपर आधारित और भी अनेक पाठों का प्रचलन प्राचीन आचार्यों ने किया था। इन पाठों को विकृतिपाठ की संज्ञा दी जाती है। ये विकृतियां संख्या में आठ हैं—जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, तथा घन।[1] कुछ आचार्यों का मत है कि इन आठों विकृतिपाठों की प्रकृति क्रमपाठ ही है। कात्यायन ने इन आठों विकृतियों का लक्षण 'जटादिविकृतिलक्षणम्' नामक प्रकरण में दिया है। यहां संक्षेप में हम उसी के अनुसार लक्षण प्रस्तुत करेंगे।

जटापाठ—दो, तीन या चार पदों का जैसा क्रम हो उसके अनुसार अनुलोम, प्रतिलोम तथा पुनः अनुलोम ढंग से संधिपूर्वक बिना किसी विराम के पाठ करना जटापाठ कहलाता है,[2] जैसे—

अ॒ग्निमी॑ळ ईळ अ॒ग्निम॒ग्निमी॑ळे (ऋ.ज. १.१.१)।

जटापाठ में ५ प्रकार के क्रम होते हैं—अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम तथा संक्रम।[3] अनुक्रम—अ॒ग्निमी॑ळ ; उत्क्रम—ई॒ळ ई॒ळ; व्युत्क्रम—ई॒ळ अ॒ग्निम्; अभिक्रम—अ॒ग्निम॒ग्निम् ; संक्रम—अ॒ग्निमी॑ळे। इन पांच क्रमों में जो उत्क्रम, व्युत्क्रम तथा अभिक्रम हैं, उनमें संधि के विषय में व्याकरण के नियमों का पालन करना चाहिये। जिह्वामूलीय, उपध्मानीय

---

१ जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥
अनन्तभट्ट, 'जटादिविकृतिलक्षणव्याख्या', भूमिका।

२. क्रमं यथोक्तं प्रब्रूयाद् व्युत्क्रमेण क्रमेण च।
सलक्षणं सर्वसंधौ जटा सा प्रोच्यते बुधैः॥ 'जटादिविकृतिलक्षणम्',१।

३. अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।
संक्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः। वही,२।

आदि जो व्याकरण में वैकल्पिक हैं, उनके विषय में प्रातिशाख्य को ही प्रमाण मानना चाहिये। अनुक्रम और संक्रम में तो केवल प्रातिशाख्य ही प्रमाण हैं, क्योंकि इनमें संहिता-धर्म की ही प्रधानता होती है।[1] स्वर के विषय में भी प्रातिशाख्य ही प्रमाण हैं।[2] जटापाठ में सवर्ण स्वर परे होने पर स्पर्श व्यञ्जन के पश्चात् आने वाला अपृक्त उ वर्ण व् में परिवर्तित हो जाता है।[3]

मालापाठ—जिस प्रकार पुष्पों की माला पुष्पों को परस्पर एक साथ गूंथने वाली होती है, उसी प्रकार पदों को परस्पर सम्बन्धित करके किया जाने वाला जो विकृति पाठ है, वह मालापाठ कहलाता है।[4] यह दो प्रकार का होता है—पुष्पमाला और क्रममाला। क्रममाला की अपेक्षा पुष्पमाला अधिक प्रचलित है। पुष्पमाला में तीन क्रम होते हैं—क्रम, व्युत्क्रम और संक्रम।[5] जैसे—सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन (ऋ.वे.५.५.१)। सुसमिद्धाय शोचिषे। शोचिषे सुसमिद्धाय सुसमिद्धाय शोचिषे। सुसमिद्धायेति सुऽसमिद्धाय। शोचिषे घृतम् घृतं शोचिषे शोचिषे घृतम्। घृतं तीव्रम्, इत्यादि (ऋ.मा.पा.)

क्रममाला में आधी ऋचा को आदि से क्रमयुक्त एवं अर्धर्च के अन्त में उल्टा करके पढ़ा जाता है। इसी प्रकार क्रम को अन्त तक तथा उल्टा को आदि तक ले जाया जाता है,[6] जैसे—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत (ऋ.वे. १०.९०.६)।

---

१. विशेषविषयान्विधीन् वैकल्पिकान् व्याकरणं प्रमाणं मध्यगत्रये संधौ। आद्यान्त्ययोः प्रातिशाख्यं मानम्। वही ४-५।
२. सर्वस्वरेषु तु। वही।
३. सवर्णेऽपृक्त उः स्पर्शात्स्वरे याति वतामिह। वही,६।
४. माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हि सा। वही,८।
५. आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमव्युत्क्रमसंक्रमाः।.वही।
६. ब्रूयात्क्रमविपर्यासावर्धर्चस्यादितोऽन्ततः। अन्तं चादिं नयेदेवं क्रममालेतिमीरिता॥ वही,९।

यत्पुरुषेण। अतन्वतेत्यतन्वत। पुरुषेण हविषा। अतन्वत यज्ञं देवाः। देवा यज्ञम्। देवा हविषा। यज्ञमतन्वत। हविषा पुरुषेण। अतन्वतेत्यतन्वत। पुरुषेण यत्। इत्यादि।

शिखापाठ—जटापाठ करके अन्त में एक अग्रिम पद का उच्चारण करना शिखापाठ कहलाता है,[1] जैसे—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत (ऋ.१०.९०.१३)।

चन्द्रमा मनसो मनसश्चन्द्रमा चन्द्रमा मनसो जातः। मनसो जातः जातो मनसो मनसो जातश्चक्षोः। जातश्चक्षोश्चक्षोः जातो जातश्चक्षोः सूर्यः। चक्षोः सूर्यः सूर्यश्चक्षोः सूर्यो अजायत। सूर्यो अजायत अजायत सूर्यः सूर्यो अजायत। अजायतेत्यजायत। (शि. पा.)

रेखापाठ—दो पदों, तीन पदों, चार पदों तथा पांच पदों के क्रम को पढ़कर प्रत्येक क्रम में पृथक-पृथक उल्टा करके पुनः क्रम पढ़ना रेखापाठ कहलाता है,[2] जैसे—मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता (ऋ.वे.१.९०.७)। मधु नक्तम्। नक्तं मधु। मधु नक्तम्। नक्तमुतोषसः उषस उत नक्तम्। नक्तमुत। उतोषसः। उषसो मधुमत्पार्थिवं रजः रजः पार्थिवं मधुमदुषसः। उषसो मधुमत्। मधुमत्पार्थिवम्। मधुमदिति मधुऽमत्। पार्थिवं रजः। रज इति रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। पिता नोऽस्तु द्यौर्मधु। मधु द्यौः। द्यौरस्तु। अस्तु नः। नः पिता। पितेति पिता। इत्यादि।

ध्वज पाठ—वर्ग या ऋचा में आदि से लेकर अन्त तक और पुनः अन्त से आदि तक क्रमपाठ करने को ध्वजपाठ कहा जाता है,[3] जैसे—

---

१. पदोत्तरां जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते। वही,१०।

२. क्रमाद्द्वित्रिचतुःपञ्चपदक्रममुदाहरेत्।
पृथक्पृथक् विपर्यस्य रेखामाहुः पुनः क्रमात्॥ वही।

३. ब्रूयादादेः क्रमं सम्यगन्तादुत्तारयेदिति।
वर्गे वा ऋचि वा यस्य पठनं स ध्वजः स्मृतः॥ वही,११।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा (ऋ.वे. १.२२.१९)। विष्णोः कर्माणि। सखेति सखा। कर्माणि पश्यत। युज्यः सखा। पश्यत यतः। इन्द्रस्य युज्यः। यतो व्रतानि। पस्पश इति पस्पशे। व्रतानि पस्पशे। यतो व्रतानि। पस्पश इति पस्पशे व्रतानि पस्पशे। व्रतानि पस्पशे। यतो व्रतानि। पस्पश इति पस्पशे। पश्यत यतः। इन्द्रस्य युज्यः। कर्माणि पश्यत। युज्यः सखा। विष्णोः कर्माणि। सखेति सखा। इत्यादि।

दण्डपाठ—अर्द्धर्च की समाप्ति तक क्रम का अनुलोम उच्चारण करके पुनः उल्टा करके विलोम क्रम उच्चारण करना और पुनः क्रम पढ़ना दण्ड पाठ कहलाता है,[1] जैसे—यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् (ऋ. वे.१.७५.५)।

यजा नः। नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यज मित्रावरुणा नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवान् यज मित्रावरुणा नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवाँ ऋतम् ऋतं देवान् यज। मित्रावरुणा नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवाँ ऋतम्। ऋतं बृहत्। बृहदृतं देवान् यज मित्रावरुणा नो यज। यजा नः। नो मित्रावरुणा। मित्राव-रुणा यज। यजा देवान्। देवाँ ऋतम्। ऋतं बृहत्। बृहदिति बृहत्।

रथपाठ—जब पाद या अर्धर्च में क्रम और विपर्यास दोनों साथ-साथ पढ़े जाते हैं तो वह विकृति पाठ रथपाठ कहलाता है,[2] जैसे—

---

१. क्रममुक्त्वा विपर्यस्य पुनश्च क्रममुत्तरम्।
आऽर्धर्चादेवमुक्तोऽयं क्रमदण्डोऽभिधीयते ॥ वही, १२।

२. पादशोऽर्धर्चशो वाऽपि सहोक्त्या दण्डवद्रथः। वही, १३।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । ऋ.वे. १.२.७ ।

मित्रं हुवे । वरुणं च । हुवे मित्रम् । च वरुणम् । मित्रं हुवे । हुवे पूतदक्षम् । वरुणं च । च रिशादसम् । पूतदक्षं हुवे मित्रम् । रिशादसञ्च वरुणम् । मित्रं हुवे । हुवे पूतदक्षम् । पूतदक्षं वरुणम् । पूतदक्षमिति पूतऽदक्षम् । वरुणं च । च रिशादसम् । रिशादसमिति रिशाऽदसम् ।

घनपाठ—पहले अन्त से आरम्भ करके आदिपर्यन्त, इसके बाद पुनः आदि से लेकर अन्त तक जब क्रमपाठ किया जाता है, तो उस पाठ को घन-पाठ कहा जाता है।[1] किन्तु इस प्रकार का घनपाठ अधिक प्रचलित नहीं है। व्याडि आदि आचार्यों को घनपाठ का जो लक्षण मान्य है वह इस प्रकार है—शिखा नामक विकृति का उच्चारण कर फिर उन्हीं शिखापदों को उलटाकर एवं पुनः क्रम से उन्हीं पदों को शिखावत् पढ़ना घनपाठ है,[2] जैसे—

दस्रा युवाकवो सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः । आ यातं रुद्रवर्तनी । ऋ.वे.१.३.३ ।

दस्रा युवाकवो युवाकवो दस्रा दस्रा युवाकवः सुताः सुता युवाकवो दस्रा दस्रा युवाकवः सुताः । युवाकवः सुताः सुता युवाकवो युवाकवः सुता नासत्या नासत्या सुता युवाकवो युवाकवः सुता नासत्या । सुता नासत्या नासत्या सुताः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषो वृक्तबर्हिषो नासत्या सुताः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः । नासत्या वृक्तबर्हिषो वृक्तबर्हिषो नासत्या नासत्या वृक्तबर्हिषः । वृक्तबर्हिष इति वृक्तऽबर्हिषः । आ यातँयातमा यातं रुद्रवर्तनी रुद्रवर्तनी यातमा यातं रुद्रवर्तनी । यातं रुद्रवर्तनी रुद्रवर्तनी यातँयातं रुद्रवर्तनी । रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी ।

---

१. अन्तात्क्रमं पठेत्पूर्वमादिपर्यन्तमानयेत् ।
आदिक्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः ॥ वही,१४ ।

२. शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत् ।
अयं घन इति प्रोक्तः ॥ वही,१५ ।

धन्य है उन आचार्यों को जिन्होंने इन विविध पाठों के द्वारा वेद-मन्त्रों को जीवित रखा। विश्व में आज कोई भी ऐसा देश नहीं जहां पर इतना प्राचीन साहित्य अक्षरशः सुरक्षित हो। प्राचीन वैदिक मन्त्रों को सुरक्षित रखने का श्रेय उन्हीं आचार्यों को है जो धैर्यपूर्वक धार्मिक भावना से इन विविध विकृतियों का पाठ करते थे, और गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा इसको आगे बढ़ाते रहे। किन्तु आज ये पाठ लुप्त से हो गये हैं। इसका कारण यह है कि वेदों का परम्परागत अध्ययन समाप्तप्राय हो गया है। आज इन विकृतिपाठों का नाम भी बहुत कम लोग जानते हैं, इनका पाठ करना तो दूर की बात रही।



एकादश अध्याय

वेदार्थ में स्वर का महत्व

ध्वनि सभी वर्णों की प्रकृति है। ध्वनि के दो रूप हैं—'साउण्ड' (Sound) तथा 'टोन' (Tone)। 'साउण्ड' सामान्य ध्वनि है, जिसका अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। 'टोन' किसी विशेष भाव या अभिप्राय से सम्बन्धित ध्वनि है। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न 'टोन' में उच्चरित होकर भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक होता है। अनेकार्थ-वाचक श्लिष्ट शब्दों के मूल में यही सिद्धान्त कार्य करता है। वस्तुतः एक शब्द के जितने अर्थ होते होंगे उतने प्रकार से उसका उच्चारण किया जाता होगा। सबका 'टोन' अलग होता होगा। बाद में अर्थभेदेन शब्दभेदः, अर्थात् अर्थभेद होने से शब्दभेद होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ के आधार पर उनको अलग-अलग शब्द मान लिया गया होगा। यास्क ने शब्दों के विवेचन के विषय में जो यह कहा है अर्थनित्यः परीक्षेत···विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरु.२.१),—अर्थात् शब्द की वृत्तियां अर्थात् उनके बाह्य रूप संदेहात्मक होते हैं, इसलिये निर्वचन करते समय उनके मूल अर्थ को सामने रखना चाहिये—वस्तुतः, इस तथ्य की ही ओर संकेत करता है। एक निश्चित 'टोन' में शब्द के उच्चारण में वक्ता तथा श्रोता दोनों को सुविधा होती है। इस अभिप्राय से 'टोन' के कारण शब्दों के उच्चारण में होने वाली अनिश्चितता तथा इसके फलस्वरूप अर्थ में आने वाली अनिश्चितता को दूर करने के लिये प्रारम्भ में 'टोन' को नियमित करने का प्रयत्न किया गया होगा। प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं में यह प्रयत्न हुआ। वैदिक भाषा में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के रूप में 'टोन' को नियमित किया गया।

वैदिक भाषा में प्रयुक्त उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के विषय में

यह कहा जाता है कि ये स्वराघात (Pitch accent) हैं, बलाघात (Stress accent) नहीं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। ग्रीक, लैटिन, जर्मन, अंग्रेजी में जो स्वर मिलते हैं वे केवल बलाघात हैं, किन्तु इसके विपरीत वैदिक भाषा में जो स्वर हैं,वे बलाघात और स्वराघात दोनों हैं। स्वराघात का सम्बन्ध अर्थ से नहीं गान से होता है। वैदिक ऋचाओं का गान किया जाता था, इसलिये उनमें स्वरों के उतार-चढ़ाव के नियमों का पालन किया जाता था। सांहितिक स्वर नियम—उदात्त के बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जायेगा, यदि उसके आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो—स्वराघात की ही विशेषता का उल्लेख करता है। अनुदात्त के बाद उदात्त, उदात्त के बाद स्वरित स्वराघात के कारण ही हैं। जब तक अर्द्धर्च पर अवसान नहीं आ जाता, तब तक इसी स्वराघात-नियम का पालन किया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सांहितिक स्वर ही स्वराघात है; जो संहितिक स्वर-नियम हैं, वे ही स्वराघात के नियम हैं। बलाघात का सम्बन्ध अर्थ के साथ है। उदात्त, अनुदात्त तथा जात्य स्वरित अर्थ के नियामक होते हैं। इस प्रकार जहां हम पद-स्वर का विचार करते हैं, हमारा सम्बन्ध बलाघात से ही होता है। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वराघात का सम्बन्ध मन्त्रों के मात्र उच्चारण से है, जबकि बलाघात का सम्बन्ध मन्त्रों के पदार्थ से है।

मन्त्रों के अर्थ-बोध के लिये स्वरों का बड़ा महत्व है। जब तक स्वर का ज्ञान नहीं होगा तब तक मन्त्रार्थ का भी ज्ञान सहीं हो सकता। प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ में स्वर ज्ञान की उपयोगिता को देखकर ही शिक्षा नामक वेदाङ्ग का प्रणयन किया था, और वेदाङ्गों में इसका स्थान सर्वोपरि माना था। प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थों में मन्त्रों में प्रयुक्त उदात्तादि स्वरों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है 'पाणिनि शिक्षा' का कहना है कि गलत स्वर में मन्त्र का उच्चारण करने पर वह मन्त्र अभिप्रेत अर्थ को प्रकट नहीं कर सकता। गलत-स्वर-प्रयुक्त मन्त्र से अनर्थ हो जाता है, जिस प्रकार इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व

इस मन्त्र में गलत स्वर का उच्चारण करने के कारण वृत्रासुर मारा गया।[1] इन्द्रशत्रु शब्द अन्तोदात्त होने पर तत्पुरुष समास होता है और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि। इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व इस मन्त्र में तत्पुरुष समास का अन्तोदात्त इन्द्रशत्रुः पद अभिप्रेत था जिसका अर्थ था 'इन्द्र का शत्रु'। किन्तु ऋत्विजों की असावधानी से आद्युदात्त इन्द्रशत्रुः पद का उच्चारण हो गया जिसका अर्थ था 'इन्द्र जिसको सताने वाला' है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि स्वर के द्वारा पद के अर्थ में उत्पन्न होने वाले संशय का निराकरण किया जा सकता है।[2] 'मीमांसा सूत्र' के भाष्य में शबर स्वामी ने लिखा है कि मन्त्रों में उदात्तादि त्रैस्वर्य के उच्चारण की जो व्यवस्था है, वह मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान के लिये है।[3] भर्तृहरि का कहना है कि सामान्य रूप से जब किसी शब्द का अर्थ-निर्धारण न हो सके, ऐसी परिस्थिति में उदात्तादि स्वर विशेष अर्थ के ज्ञापक होते हैं।[4] ऋग्वेद के भाष्यकार तथा स्वर-शास्त्र के परम वेत्ता आचार्य वेंकट माधव ने लिखा है कि जिस प्रकर अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य कभी मार्ग में ठोकर खाकर नहीं गिरता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किया गया मन्त्रार्थ स्पष्ट तथा संदेह-रहित होता है।[5] वेंकट माधव ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया

---

१. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। पा.शि.५२।

२. पा. म. पस्पशाह्निक।

३. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति। शबर, जै.मी.सू.भा. ९.२.३१।

४. सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः। वाक्यपदीय, २.३१८।

५. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥ स्वरानुक्रमणी, १.८।

है कि जहां कहीं एक शब्द का अर्थ समान होगा, उस शब्द का स्वर सर्वत्र समान होगा, जहां स्वर में भेद होगा, वहां अर्थ बदल जायेगा।[1] भरत, मम्मट, विश्वनाथ, आदि काव्यशास्त्रियों ने भी अर्थज्ञान के लिये उदात्तादि स्वरों की महत्ता स्वीकार की है।[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती भी वेदार्थ-ज्ञान के लिये स्वरों की उपयोगिता को स्वीकार करने से अपने को नहीं रोक सके।[3]

उदात्तादि स्वर पदार्थ-निर्णय में तीन प्रकार से सहायता करते हैं—(१) पद के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं, (२) पदगत अर्थ का ज्ञान कराते हैं और (३) वाक्यार्थ का प्रकाशन करते हैं।

१. स्वर द्वारा पद के स्वरूप का ज्ञान

(१) पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ पद ऐसे होते हैं जिनके स्वरूप के विषय में संदेह होता है कि वे नामपद हैं, या आख्यातपद, या निपात, या उपसर्ग। इन चार प्रकार के पदों के स्वरूप के ज्ञान के लिये स्वर निर्णायक का काम करता है। वेंकटमाधव का स्पष्ट कथन है कि नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही जाना जा सकता है।[4] किम् शब्द के पु.प्र.ए. में कः पद बनता है। √कृ धातु का लुङ् लकार में अकः पद बनता है और अट् के अभाव

---

१. अर्थभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा नतं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदा नयेत्॥ वही, १.८.१।

२. तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तवर्णैः पाठ्यमुपपाद्यम्, वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुणवीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितैः।
भरत, ना. शा. १७.११०।
स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्। विश्वनाथ, सा.द. ३।

३. वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।
ऋ.भा.भू. तृतीय संस्क., पृ. ३७४।

४. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते।
ऋग्वेदानुक्रमणी, परिशिष्ट, ४, पंक्ति. ८।

में कः पद ही रह जाता है। यह कः किम् सर्वनाम का रूप है, या √कृ धातु का रूप, इसका निर्णय स्वर के द्वारा ही किया जा सकता है। यदि कः उदात्तयुक्त होगा तो वह सर्वनाम पद होगा और अनुदात्त होगा तो क्रियापद। यास्क ने त्व पद के स्वरूप के निर्णय के लिये स्वर की सहायता ली है। त्व को कुछ लोग निपात मानते हैं और कुछ लोग सर्वनाम। यास्क का कहना है कि नामपद कभी अनुदात्त नहीं हो सकता।[1]

(२) उदात्त विभक्ति के स्वरूप का भी निर्णायक होता है। एकाच् व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के द्वितीया ब.व. तथा पञ्चमी और षष्ठी ए.व. के रूप समान होते है। यहां स्वर से इनके विभक्ति-रूप का निर्णय किया जाता है। यदि पद आद्युदात्त है, तो वह द्वितीया बहुवचन का रूप होगा और यदि उदात्त प्रत्ययांश पर है तो वह पंचमी या षष्ठी विभक्ति के ए. व. का रूप होगा, जैसे—वाचः, वाचः इत्यादि। प्रथमा और सम्बोधन के रूपों में साम्य होता है। दोनों का विभाग करने वाला स्वर होता हैं। यदि आद्युदात्त है तो वह सम्बोधन पद होगा[2] और यदि अन्तोदात्त है तो वह प्रथमा विभक्ति का रूप होगा,[3] जैसे—जनासः 'मनुष्य', जनासः 'हे मनुष्यो', देवाः 'देव', देवाः 'हे देवो', इत्यादि।

(३) शब्द के लिंग-निर्धारण में भी स्वर सहायक होता है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका पुंलिंग और नपुंसक में समान रूप होता है। ऐसे पदों में जो आद्युदात्त होता है, वह नपुंसक होता है, और जो अन्तोदात्त होता है, वह पुंलिंग होता है, जैसे—रक्षः (न.), रक्षः (पु.)। इसी प्रकार नपुंसक भावपद (Action noun) तथा पुलिङ्ग कर्तापद (Agent noun) का भी

---

१. त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्। तत् कथमनुदात्त-प्रकृतिः नाम स्यात्। निरु. १.७,८।
२. आमन्त्रितस्य च। पा. ६.१.१९८।
३. फिषोऽन्त उदात्तः। फि.सू. १.१।

अन्तर स्वर के द्वारा जाना जा सकता है, जैसे—ब्रह्मन् (न.) 'प्रार्थना', ब्रह्मन् (पु.) 'प्रार्थना करने वाला'; यशस् (न.) 'कीर्ति', यशस् (पु.) 'यशस्वी'; अपस् (न.) 'कार्य', अपस् (पु.) 'कार्य करने वाला', इत्यादि।

(४) समास पदों के निर्धारण के लिये तो स्वरों की सर्वाधिक उपयोगिता है। स्वर के आधार पर यह निर्णय होता है कि अमुक पद अमुक समास है। 'पाणिनि शिक्षा' में इन्द्रशत्रुः पद के स्वर-परिवर्तन के कारण समास-परिवर्तन, अतएव अर्थपरिवर्तन का उल्लेख किया गया है।[1] यदि पूर्वपद को प्रकृति स्वर है, तो वह बहुव्रीहि समास होगा और यदि उत्तरपद अन्तोदात्त है तो तत्पुरुष समास होगा। इस प्रकार आद्युदात्त इन्द्रशत्रुः पद का अर्थ हैं 'इन्द्र जो सताने वाला है' तथा अन्तोदात्त इन्द्रशत्रुः पद का अर्थ है 'इन्द्र का शत्रु'। स्वर समास के निर्धारण में किस प्रकार सहायक होता है, इसके उदाहरण में पतञ्जलि ने स्थूलपृषती पद को उद्धृत किया है। यज्ञकाण्ड में एक वाक्य है—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत, अर्थात् स्थूलपृषती, अग्नि और वरुण देवता वाली गाय का आलम्भन करना चाहिये। इसके विषय में यह संदेह होता है कि यहां स्थूलपृषती पद का स्थूला चासौ पृषती, इस प्रकार कर्मधारय समास मानकर अर्थ किया जाय, अथवा—स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा, ऐसा बहुव्रीहि मानकर अर्थ किया जाय। महाभाष्यकार का कहना है कि इस बात का निर्णय स्वर के आधार पर ही किया जा सकता है। यदि पूर्वपद का प्रकृति स्वर है तो वह बहुव्रीहि समास होगा और यदि समस्तपद अन्तोदात्त है तो वह तत्पुरुष समास होगा।[2] इसी प्रकार नञ्-पद-पूर्व समास नञ् तत्पुरुष

---

१. द्र. पीछे. पृ. १३५, टि. १।

२. याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति तस्यां संदेह स्थूला चासौ पृषती च। स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ अन्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति। पा.म., पस्पशाह्निक।

समास होता है और बहुव्रीहि समास भी, जैसे—अ॒ही॑नं, अहीन। यदि पूर्व-पद नञ् उदात्त होगा तो वह नञ् तत्पुरुष समास होगा और यदि उत्तरपद को उदात्त स्वर होगा तो वह बहुव्रीहि समास होगा।[1] तत्पुरुष समास में अहीन का अर्थ होगा—'फल से रहित न हों' तथा बहुव्रीहि समास में अर्थ होगा—अहीन संज्ञक एक यज्ञ।

इसी प्रकार और भी अनेक पदों के स्वरूप का ज्ञान स्वर की सहायता से ही हो सकता है। जिनको स्वरों का ज्ञान नहीं उन्हें वैदिक मन्त्रगत पदों के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

२. पदार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

ऊपर स्वर द्वारा जिन पदों के स्वरूपनिर्णय की बात कही गई है, वह पदार्थ की भिन्नता के कारण ही है। अर्थ की दृष्टि से भिन्न होने पर ही पद का स्वरूप भिन्न होता है, और अर्थ की भिन्नता स्वर की भिन्नता के कारण होती है। जब वक्ता किसी शब्द का कथन करता है तो उसका शब्द के किसी न किसी एक अंश पर बल होता है। प्रत्येक नाम-पद आख्यातज।त है, अर्थात् किसी न किसी धातु से प्रत्यय लगाकर बनता है। कभी वक्ता धात्वंश पर बल देता है कभी प्रत्ययांश पर। शब्द एक ही होता है, किन्तु धात्वंश पर बल देने से उसका अर्थ दूसरा हो जाता है, और प्रत्ययांश पर बल देने से दूसरा ही। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में उदात्त ही बलवान् होता है, इसलिये बलाघात का सम्बन्ध इसी के साथ है। शब्द के जिस अंश पर वक्ता बल देता है, उसी अंश पर उदात्त होता है, जिस अंश पर बल नहीं दिया जाता, वह अनुदात्त होता है। यास्क ने इसी तथ्य की ओर संकेत यह कह कर किया है कि उदात्त का अर्थ तीव्रतर अर्थात् मुख्य होता है और अनुदात्त का अर्थ अल्प अर्थात् गौण होता है।[2]

---

१. ननु नञ् समासो भविष्यति। नेति ब्रूमः। तथा सति आद्युदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्। मध्योदात्तस्त्वयम्। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य धर्मः। शबर, जै.मी.सू.भा. ३.३.१५।

२. तीव्रार्थतरमुदात्तम् अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरु. ४.२५।

स्वर-परिवार में उदात्त प्रधान होता है, अनुदात्तादि उसके सहायक होते हैं, उसके अधीन होते हैं। वह शब्द के अवयवार्थ को कहने वाला होता है। वक्ता शब्द के जिस अवयवार्थ पर बल देना चाहता है, वहीं पर यह होता है।[1] तृन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक आद्युदात्त होता है और तृच् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक चित्स्वर से अन्तोदात्त होता है। दोनों प्रत्ययों के योग से एक ही शब्द बनता है, किन्तु स्वर-भेद के कारण अर्थ-भेद हो जाता है। वेंकटमाधव ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि तृन् प्रत्यय में धात्वंश की प्रधानता होती है और तृच् प्रत्यय में प्रत्ययार्थ की।[2] तृन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता पद का अर्थ है—'अच्छे ढंग से आह्वान करने वाला, और तच् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होता पद का अर्थ है—'आह्वान करने वाला'। प्रथम में क्रिया की प्रधानता है और दूसरे में कर्ता की प्रधानता है। पुरुतमम् और शुष्मिन्तमम् ये दो पद हैं। दोनों पदों के अन्त में तमम् लगा हुआ है, किन्तु एक में आद्युदात्त है और दूसरे में सर्वानुदात्त। आद्युदात्त तमम् तमप् प्रत्यय का रूप नहीं हो सकता, क्योंकि तमप् पित् होने के कारण सर्वानुदात्त होता है। जिस शब्द के साथ तमप् लगता है, उसमें प्रत्ययांश की प्रधानता न होकर प्रकृत्यंश की प्रधानता होती है। पुरुतमम् में त पर उदात्त है, इसलिये यह तमप् का रूप नहीं। यहां तमम् को √तमु 'ग्लाने' से निष्पन्न मानकर अर्थ करना चाहिये। इस प्रकार पुरुतमम् का अर्थ होगा 'बहुतों को दबाने वाला'। इसी प्रकार सर्वत्र

---

१. क इव इतरे स्वरा इव। यथाऽन्ये स्वरा अनुदात्तादयः अंशस्य अंशाभिधानस्वरस्य उदात्तस्वरस्य बहुलध्वनेः परिवारतां गच्छन्ति। सोऽपि सकृदुच्चारणादल्पो भवति। उक्तं च—'योऽत्यन्तबहुलो यत्र वादी चांशस्य तत्र सः' इति। अतएव प्रधानत्वम्।

शिशुपालवध २.९० पर वल्लभदेव की व्याख्या।

२. तृन्तृचोश्चार्थभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि।
तृचि स्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः॥ वेंकट, स्वरा. १.८.७।

जहां रूप-साम्य हो, किन्तु स्वर-भेद हो, वहां स्वर के अनुसार अर्थ करना चाहिये ।[1]

(२) निपातों में कुछ उदात्तयुक्त होते हैं और कुछ सर्वानुदात्त होते हैं । इसका भी कारण अर्थभेद ही है । नूनम्, हि, एव, किल आदि जो निपात हैं, वे अर्थ पर बल देने वाले होते हैं,[2] इसलिये उदात्तयुक्त होते हैं, किन्तु च, वा, ईव, उ, घ, ह, चिद् आदि निपात अर्थ पर बल देने वाले नहीं होते इसलिये सर्वानुदात्त होते हैं । उपसर्ग इसलिये उदात्तयुक्त होते हैं कि क्रिया के ऊपर उनका आधिपत्य होता है । पाद में उपसर्ग का अर्थ स्पष्ट रूप से दिखाना चाहिये । किन्तु जब किसी क्रियापद के साथ इनका समास हो जाता है तो इनके अर्थ की प्रधानता समाप्त हो जाती है, क्रियापद की ही प्रधानता होती है ।[3] इसीलिये जब किसी क्रिया पद के साथ उपसर्ग का समास होता है, तो उपसर्ग पद सर्वानुदात्त हो जाता है, उदात्त स्वर क्रियापद पर होता है ।

(३) पहले हम देख चुके हैं कि समास के निर्धारण में स्वर एक महत्व-पूर्ण भूमिका अदा करते हैं । समास में कभी उत्तरपद का आदिम वर्ण कभी अन्तिम वर्ण तथा कभी पूर्वपद का आदिम, कभी अन्तिम वर्ण उदात्त होता है। यह सब अर्थ के ऊपर आधारित है । समास में दो या अधिक पद एक साथ मिलते हैं। पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की प्रधानता होती है, इसलिये सामान्य रूप से समास में उत्तरपद पर उदात्त होता है ।[4] किन्तु जब पूर्वपद की

---

१. सर्वत्रैवं समानेषु स्वरेणार्थो व्यवस्थितः । वही, १.८.४ ।

२. य उदात्ता निपातेषु नूनं ह्येव किलादयः ।
उच्चैः प्रदर्शनीयोऽर्थस्तेषामिति विनिश्चयः ॥ वही, १.६.७ ।

३. उदात्तेषूपसर्गेषु तदर्थः प्रस्फुटो भवेत् ।
समस्तेष्वनुदात्तानां नीचैरर्थं प्रदर्शयेत् ॥ वही, १.६.८ ।

४. तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते ।
उदात्तस्तत्र भवति............ । वही, १.३.२ ।

प्रधानता होती है तो उदात्त स्वर पूर्वपद पर होता है।[1] तत्पुरुष, कर्मधारय आदि में उत्तरपद की प्रधानता होती है, इसलिये इनमें उदात्त स्वर उत्तरपद पर होता है। नञ् समास में निषेध की प्रधानता होती है इसलिये इसमें उदात्त नञ् पर ही होता है। किन्तु जब नञ् अनुदात्त हो तो वहां उत्तरपद की ही प्रधानता समझनी चाहिये।[2] द्वन्द्व समास में दोनों पदों पर उदात्त स्वर होता है। इसका कारण यह है कि द्वन्द्व में दोनों पदों की प्रधानता होती है। वक्ता दोनों पर समान बल देता है।[3] किन्तु द्वन्द्व समास में भी जब कभी पूर्वपद या उत्तरपद पर एक उदात्त हो तो उसी उदात्तयुक्त पद को अर्थ की दृष्टि से प्रधान समझना चाहिये। दोनों पदों में यदि कार्य-सम्बन्ध हो और पूर्वपद के अर्थ के लिये ही उत्तरपदार्थ का कथन किया गया हो, तो वह द्वन्द्व अन्तोदात्त ही होता है।[4] बहुव्रीहि समास में पूर्वपद की प्रधानता होती है, इसलिये इसमें पूर्वपद को उदात्त स्वर होता है। किन्तु कभी-कभी उत्तरपद पर भी उदात्त देखा जाता है। बहुव्रीहि में जहां उदात्त स्वर उत्तरपद पर हो वहां उत्तरपद की ही प्रधानता समझनी चाहिये।[5] कभी-कभी पूर्वपद या उत्तरपद में स्थित पद अपने प्रकृति स्वर का परित्याग कर देते हैं। ऐसा प्रकृत्यंश या प्रत्ययांश

---

१. यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः प्रस्फुटो भवेत्। वही १.३.४।

२. अनुदात्तश्च दृष्टो नञ्अयोर्द्धेव दुर्मदः।
तादृशेषूत्तरपदे प्राधान्यमिति निर्णयः॥ वही १.३.६।

३. समप्रधानयोर्द्वन्द्व उदात्त उभयोरपि। वही १.३.९।

४. कार्ययोगो यदि द्वन्द्व उभयोरपि दृश्यते।
स्थिते पूर्वपदस्यार्थे द्वितीयस्यापि संग्रहः॥
अन्तोदात्तस्ततो द्वन्द्व............. । वही १.३.७-८।

५. उदात्तश्चोभयोर्दृष्टः पूर्वस्मिन्नपि चोत्तरे।
उदात्तानुगुणश्चार्थो दर्शनीय इति स्थितिः॥ वही.१.३.१३।

की प्रधानता के कारण होता है।[1] इस प्रकार सर्वत्र सभी समासों में जिस पद में उदात्त की स्थिति हो, उसी के अर्थ पर वक्ता का बल समझना चाहिये।[2]

३. वाक्यार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

वाक्य-स्वर-प्रकरण में जो यह बताया गया है कि वाक्य में कहीं कोई पद उदात्तयुक्त होता है और कहीं सर्वानुदात्त, वह सब अर्थभेद के कारण है। वाक्यार्थ एक हो और स्वर भिन्न-भिन्न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

(१) इदम्, एतत् के जो रूप अन्वादेश में सर्वानुदात्त होते है, उसका कारण यह है कि वक्ता का उस पर जोर नहीं होता। पाद के प्रारम्भ में जब ये पद आते हैं, तब ये मुख्य होते हैं, वक्ता का उस पर बल होता है, अतएव उदात्तयुक्त होते हैं।[3] इसी प्रकार जब संकेतवाचक विशेषण के रूप में विशेष्य पद के साथ आते हैं तब भी इनके अर्थ की प्रधानता होती है, क्योंकि विशेषण विशेष्य का निर्धारण करने वाला होता है, अतएव उदात्तयुक्त होता है।

(२) वाक्य के प्रारम्भ में जब सम्बोधन पद होता है, तो उसमें प्रथम वर्ण के ऊपर वक्ता का जोर होता है, इसलिये यहां उदात्त स्वर हमेशा प्रथम वर्ण पर ही होता है। पाद के मध्य में जो सम्बोधन पद आता है

---

१. प्रकृतौ प्रत्यये वापि स्वरो यत्र व्यवस्थितः।
तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः ॥ वही १.४.१०।

२. सर्वेष्वेषु समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत्।
काशंकुशं वावलम्ब्य स्वरं तं स्थापयेदिति ॥ वही १.३.२२।
सर्वेष्वेषु समासेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः।
पदेषु चा समस्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः ॥ वही १.४.६।

३. अस्याः इति च अस्य इति च उदात्तं प्रथमादेशेऽनुदात्तमन्वादेशे।
तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरु. ४.२५।

उसके ऊपर वक्ता का बल नहीं होता, अतएव वह सर्वानुदात्त होता है।[1] इसी प्रकार कहीं पाद के प्रारम्भ में भी सर्वानुदात्त और पाद के मध्य में भी उदात्तयुक्त सम्बोधन पद देखा जाता है। वहां भी अर्थ के अनुसार ही स्वर होता है।[2]

(३) वाक्य के आदि में क्रियापद उदात्तयुक्त होता है तथा मध्य या अन्त में आने पर कभी सर्वानुदात्त कभी उदात्तयुक्त होता है।[3] वाक्य में कभी उदात्तयुक्त होना और कभी सर्वानुदात्त होना अर्थ के ऊपर आधारित है। यदि पाद के मध्य में या पादान्त में क्रियापद सर्वानुदात्त है, तो उसके अर्थ की प्रधानता नहीं होती। वाक्य के अन्त में उस क्रिया के अर्थ के साथ वाक्य का पर्यवसान करना चाहिये।[4] सर्वानुदात्त तिङ् पद का वाक्य के अन्त में धीरे से अर्थ दिखाना चाहिये, और उदात्तयुक्त क्रियापद का अर्थ वाक्य के प्रारम्भ में ही बल देकर दिखाना चाहिये।[5] वाक्य में प्रयुक्त क्रियापद का स्वर वाक्य का निर्णायक होता है। यदि पाद के मध्य में या पादान्त में स्थित क्रियापद उदात्तयुक्त है तो वह वाक्य आश्रित उपवाक्य होता है, और यदि सर्वानुदात्त है तो मुख्य वाक्य होता है। यत्, यदि, इत्यादि पदों के साथ प्रयुक्त क्रिया इसीलिये उदात्तयुक्त होती है कि ये आश्रित

---

१. आमन्त्रिताद्युदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत्।
नीचैरामन्त्रणे कार्ये पदं सर्वं निहन्यते॥ स्वरानु. १.२.१।

२. अर्थस्वभावाद्वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते।
अर्थस्वभावादुच्चैस्त्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते।
तथैव नीचैस्त्वमपि............वही, १.२.२-३।

३. द्र. 'वाक्य-स्वर-प्रकरण' के अन्तर्गत 'आख्यातपदों का स्वर-परिवर्तन पृ. ९१-९६।

४. निघाततिङ्पदस्यार्थे वाक्यार्थः पर्यवस्यति।
अनिघातोऽपि पादादौ विशेषस्तत्र वक्ष्यते॥ वही, १.१.३।

५. निघाततिङ्पदस्यार्थं वाक्यान्ते दर्शयेच्छनैः।
उदात्ततिङ्पदस्यार्थमुच्चैरादौ प्रदर्शयेत्॥ वही १.१.४।

उपवाक्य के संयोजक शब्द हैं। वेंकटमाधव ने स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख किया है कि वाक्य के प्रारम्भ में क्रियापद जो उदात्तयुक्त होता है और अन्यत्र सर्वानुदात्त होता है, उसका कारण केवल अर्थभेद ही है। श्रोता जिस प्रकार से अभिमुख हो, इसी अभिप्राय से क्रियापद को प्रारम्भ में उदात्तयुक्त करते हैं।[1] प्रत्येक पाद पर रुक-रुक कर ऋषि अपना प्रयोजन बताते हैं, इसीलिये बार-बार उद्बोधन करने के लिये, अर्थात् अर्थ पर बल देने के लिये पादादि में क्रियापद को उदात्तयुक्त करते हैं।[2] पादादि में सम्बोधन पद के बाद आने वाला क्रियापद इसलिये उदात्त होता है कि पूर्व सम्बोधन पद अविद्यमानवत् समझा जाता है। वेंकटमाधव का कहना है कि सम्बोधन पद के द्वारा उद्बुद्ध करने पर भी वाक्यार्थ का उद्बोधन करने के लिये तिङ् पद को उदात्तयुक्त किया जाता है।[3] लुट् लकार का क्रियापद पाद के मध्य में भी जो उदात्तयुक्त होता है,इसका भी कारण अर्थभेद ही है। वहां पर काकु (वक्र) उक्ति के कारण अर्थ पर बल देना होता है, इसलिये क्रियापद उदात्तयुक्त होता है।[4]

इस प्रकार सर्वत्र पद में, समास में, या वाक्य में जहां उदात्त की

---

१. अथात्र कारणं ब्रूहि वाक्यादौ तिङुदात्तवत्।
सर्वानुदात्तमन्यत्र नार्थभेदस्तु कश्चन॥
अर्थभेदादिति ब्रूमः श्रोतारमिह तिङ्पदम्।
उदात्तवत्समाहन्ति स यथाभिमुखो भवेत्॥ वही, १.१.६-७।

२. अनुपादं विरम्यार्थमृषयः कथयन्त्यतः।
पुनश्चोद्बोधनं कर्तुं पादादौ तिङुदात्तवत्॥ वही, १.१.९।

३. तत्र सम्बोधनपदैर्नरः सम्बोधितोऽपि सन्।
वाक्यार्थोद्बोधनं कर्तुं पुनराहन्यते तिङा॥ वही, १.१.१२।

४. यथा तिङ्क्षु हियुक्तेषु ह्यर्थे वाक्यस्य संस्थिति।
एवं लुट्यपि संस्थानं तस्मिन्काकाविति स्थितिः॥ वही, १.१.१७।

स्थिति हो उस अंश में काकु होता है,[१] अर्थात् उस अंश पर वक्ता का बल होता है। स्वर का ज्ञान बड़ा सूक्ष्म है। किस पद में किस अंश पर काकु है, इसका पता लगाना कठिन है। जो सूक्ष्मविद् हैं,वे ही इसको जान सकते हैं। वेंकटमाधव ने लिखा है कि किस पद पर काकु है इसका पता केवल देवताओं को है; समास में कहां काकु हैं इसको सूक्ष्मविद् ही जानते हैं, तथा तिङ् पदों में कहां काकु है, इसको प्राकृत लोग भी जानते हैं।[२] वेंकटमाधव के इस कथन से मालूम होता है कि तिङ् पदों में काकु स्पष्ट दिखाई पड़ता है, समास में उससे सूक्ष्म और पद में उससे भी सूक्ष्म होता है। वेंकटमाधव का कहना है कि पद में समास में तथा वाक्य में जो काकु की व्यवस्था है, वह स्वर के द्वारा ही है।[३] इसीलिये पदार्थ या वाक्यार्थ के लिये स्वर ज्ञान अत्यावश्यक है। जिसको स्वर-ज्ञान नहीं, वह वेदार्थ नहीं कर सकता।

---

१. एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निर्णयः॥ वही १.१.२१।

२. तत्रैतस्मिन्पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः॥ वही. १.१.२२।

३. वाक्यवृत्तिप्रकारोऽयं सदृशो लौकिकेष्वपि॥
मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते॥
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः। वही, १.१.२३-२५।

TREATMENT OF NATURE IN THE RGVEDA

•

By

Dr. B. B. CHAUBEY
M.A., Ph.D.

Pages : XV+38+300

Publication Year : 1970

This work is an honest attempt to reproduce the glory that the *Rgveda* is— a repository of ancient religion and unblemished poetry. In the Introduction the author proposes an assessment of the wealth of critical acumen and hard labour that scholars both ancient and modern, have brought to bear upon the study of the Vedas, especially the *Rgveda*. Here for the first time the author has discussed the various modes of Nature-description in the poetry of the *Rgveda*.

Price : Rs. 40.00
Shillings : 37

Published by :

Vedic Sahitya Sadan

Ba... Chowk, HOSHIARPUR (Pb., In